योग : सिद्धान्त एवं साधना

पण्डित हरिकृष्णशास्त्री दातार

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

६२

योग : सिद्धान्त एवं साधना

पण्डित हरिकृष्णशास्त्री दातार

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

प्रथम संस्करण

१९८६ ई०
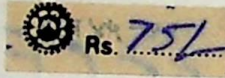
अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

भोजो मुद्रणालय

वाराणसी

॥ श्री ॥

वन्द्याश्च ये दार्शनिकाग्रगण्याः,
तताश्च मे माधवशास्त्रिपादाः ।
तेषां बुधानां पदपद्मयुग्मे,
इमां मदीयां कृतिमर्पयामि ॥

शिवसायुज्यमुक्त, कैवल्यप्राप्त, पुण्यश्लोक, परमपूजनीय,
योगिराज, परमभागवत, व्याससिरोमणि,
भागवतमार्तण्ड पण्डितप्रवर
श्री माधवशास्त्री दातार
पितृपाद के श्री चरणों में
सादर सर्मपित

विनीत
हरिकृष्ण

प्रस्तावना

वर्तमान समय में विद्वान् मनीषी गुरु के सान्निध्य में योग दर्शन का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर उसके सिद्धान्तों को यथार्थतया अभिज्ञात करना अत्यन्त कष्ट साध्य है। जब तक योगदर्शन के समुपजीव्य तथा आकर ग्रन्थों का अध्ययन, मनन एवं निदिध्यासन उनकी मूल संस्कृत भाषा में नहीं होता, तबतक उक्त मौलिक ग्रन्थों के अन्तर्गत सैद्धान्तिक सूक्ष्मता का, तारतम्य का एवं मर्मबन्धों का ऊह-अपोहात्मक ज्ञान होना सुलभ नहीं होता। योगदर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष का योग के आचार्य के समीप पूर्णतया विवेक प्राप्त होने के उपर्यन्त उसकी साधना के मार्ग पर सिद्ध योगी सद्गुरु के तत्त्वावधान में उसके निर्देशन के अनुसार ही साधक सफलतया अग्रेसर होता है। बुद्धिगम्य सैद्धान्तिक ज्ञान तथा प्रत्यक्ष क्रियामूलक प्रक्रिया ज्ञान इन दोनों में स्वल्प भेद होना स्वाभाविक है। बुद्धिगम्य ज्ञान जब प्रत्यक्षक्रिया में परिणत होने लगता है, तब सैद्धान्तिक विवेक करना आवश्यक हो जाता है। यह नितान्त महत्त्वपूर्ण कार्य योगसिद्धान्ततत्त्वज्ञ एवं योग क्रियामूलक साधना सिद्ध सद्गुरु ही कर सकता है। अतएव योग-साधना के समय में सद्गुरु की अनिवार्यता भासमान होती है।

योगसाधना का पथ जितना मृगमरीचिका के समान विलोभनीय तथा सिद्धियों की उपलब्धि के प्रलोभन के रूप में अरण्यरमणीय प्रतीत होता है, उससे भी अधिक दुर्गम, कण्टकाकीर्ण तथा प्राणहर क्रूर भी होता हैं। चरित्र हीनता के कारण उत्पन्न हुई यम एवं नियमात्मक महाव्रतों की खण्डितावस्था की स्थिति में तथा सद्गुरु के निर्देशन के अभाव में आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार की साधना में उत्पन्न हुए दोषों के फल स्वरूप साधक प्रायः योग साधनामार्ग से च्युत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि योगसाधना के समय, योगसिद्धान्त मर्मज्ञ एवं योग साधना-सिद्ध सद्गुरु के तत्त्वावधान में ही योगसाधना पूर्णतया लाभप्रद तथा सिद्धिदायक हो सकती है, अन्यथा नहीं।

सम्प्रति, भारत में योगसाधना की दृष्टि से पूर्णतया अनुकूल परिस्थिति सामान्य योग साधक के लिए सहज सुलभ प्रतीत नहीं होती है। जागतिक पर्यावरण प्रदूषण से तथा पाञ्चभौतिक प्रदूषण से योग साधक के पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर के अन्नमय कोष तथा प्राणमय कोष क्षुब्ध होते हैं। विकृत विषयवासनाओं से एवं

काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविकारों से मनोमय कोष प्रदूषित होकर विकसित योग-साधना की भूमिका के योग्य नहीं होता है। तात्पर्य योगसाधना की दृष्टि से भारत में अतीत समय जितना अनुकूल था, उतना वर्तमान समय नहीं है तथा सम्भवतः अनागत समय भी नहीं होगा ।

प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रबन्ध में मैंने योग के सिद्धान्त एवं साधना के पक्षों को प्रस्तुत करने का यथामति प्रयास किया है । दर्शन का विद्यार्थी होने के नाते मुझमें दर्शन विषयक विशेषज्ञता होकर मैंने योगदर्शन के सिद्धान्तों को स्वतः की प्रतिभा से परिमण्डित किया है ऐसा समझना वास्तविकता के विरुद्ध होगा । वस्तुतः तथ्य की परिवर्णना प्रशंसा अथवा आत्मस्तुति न होने के कारण सम्प्रति यह कथन अवास्तविक एवम् अनुचित न होगा कि विगत पचपन वर्षों में अधीत वैदिक, औपवेदिक, पौराणिक, दार्शनिक, शास्त्रीय, आगमीय, तान्त्रिक तथा आधुनिक पाश्चात्य विषयों के स्वल्पतम ज्ञान के फलस्वरूप ग्रन्थ प्रणेता में इस प्रमा का उदय हुआ है कि प्रमाता सम्प्रति प्रमेय का अर्थात् तत्त्व का जिज्ञासु है ।

यह बात दूसरी है कि सामान्य एवम् अहंपूर्ण व्यक्ति ज्ञान सागर के केवल एक शीकर के लाभ से ही स्वतः को सर्वज्ञ तथा विपश्चित् समझता है, किन्तु जब वह ज्ञान सागर में अवगाहन करने पर भी अतलस्पर्शी ही रहता है, तब उसको ज्ञान की असीमता एवं गंभीरता का बोध होकर उसका अहं विलीन हो जाता है । ठीक यही बात योग साधना में भी घटित होती है । साधक इसमें जितना प्रविष्ट होता जाता है, साधना उतनी ही गहन एवं दुरूह उसको प्रतीत होने लगती है । कभी-कभी तो यह साधना साधक को मरुस्थल की अन्तहीन मृगमरीचिका के समान छलती है । ऐसी स्थिति में साधक को सद्गुरु का अवलम्ब न हो अथवा वह अदृढ़निश्चयी हो, तो उक्त साधक साधनापथ से विचलित हो जाता है ।

अन्तमें, मेरे ग्रन्थप्रणयन का यह तुच्छ प्रयास योग दर्शन के सिद्धान्तों के विषय में सम्प्रति जनसाधारण के मस्तिष्क में उत्पन्न हुए मिथ्या ज्ञान एवं पल्लव-ग्राहिपाण्डित्य को तथा योग साधना की प्रायः समस्त विधाओं के विषयमें प्रादुर्भूत हुई भ्रान्त धारणाओं को आंशिक रूप में ही क्यों न हों, दूर करने के उद्देश्य से अनुप्रेरित हुआ है, यह कथन अवास्तविक एवम् अतथ्यपूर्ण नहीं है ।

अन्त में यह आशा करना वृथा न होगा कि योग-सिद्धान्त एवं साधना विषयक अतिसामान्य तथा संक्षिप्ततम इस प्रस्तुतीकरण से योग के सैद्धान्तिक एवं

क्रियात्मक पक्षों को जानने के इच्छुक जिज्ञासु व्यक्ति अल्परूप में ही क्यों न हो, लाभान्वित अवश्य होंगे ।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

इस उक्ति के अनुसार इस ग्रन्थ में अतिपरिमितमति ग्रन्थप्रणेता के द्वारा हुई अनवधानजन्य त्रुटियों की उपेक्षा कर तथा उसकी सैद्धान्तिक अनवद्य मनोज्ञता को सम्मानित कर विचक्षण एवं विशालहृदय वाचक अपने नीरक्षीर विवेक का परिचय देने की कृपा करेंगे ।

विनयावनत

हरिकृष्णशास्त्री दातार

के० १८/७६, ब्रह्माघाट,
वाराणसी-१ (उ० प्र०)
प्रौष्ठपदी गणेशचतुर्थी सं० २०४३ वै०

विषयानुक्रमणिका

योग : सिद्धान्त एवं साधना

स घानो योग आभुवत् स राये स पुरं ध्याम् ।

गमद् वाजेभिरा स नः ॥

(ऋग्वेदीय शाकल संहिता १-५-३)

परमात्मा की कृपा से समाधि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा का हमें लाभ हो । वह हमें अणिमाऽदि सिद्धियों को प्रदान करे ।
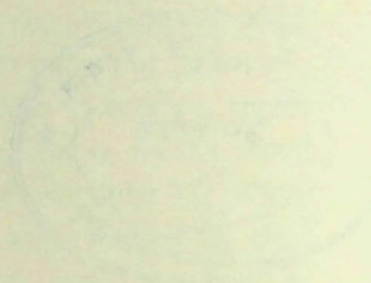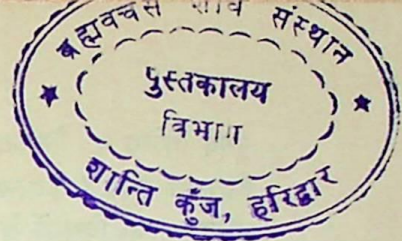
विषय प्रवेश

वेद, आरण्यक-उपनिषद्-परिशिष्ट, उपग्रन्थ, वेदाङ्ग, उपवेद, इतिहास-पुराण, दर्शन, आगम-तन्त्र, शास्त्र आदि से परिमण्डित सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में मानव मात्र के लिए नितान्त समभीप्सित शाश्वत सुख एवं चिरन्तन शान्ति की प्राप्ति के साधनों का साक्षात् अथवा पारम्परिक विविध विधाओं में किया हुआ अन्वाख्यान हमें समुपलब्ध होता है। यह संस्कृत वाङ्मय की ही अनन्य साधारण विशेषता है कि इसके अन्तर्गत समस्त ज्ञानशाखाएँ, मानव जीवन के चरम एवं परम उद्देश्य, आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति तथा शाश्वत सुख के निधान मुक्ति के साधनों को विभिन्न प्रकारों से निरूपित करती हैं। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत कर्मकाण्ड, भक्तिकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड में प्रतिपादित उक्त उद्देश्य के विभिन्न साधन धर्मशास्त्र में, इतिहास-पुराणों में एवं दर्शनों में पृथक्-पृथक् रूपों में विस्तार से प्रतिपादित हुए हैं। वेदों के उपग्रन्थान्यतम कल्पसूत्र तथा तदुपजीवक धर्मशास्त्र में कर्मकाण्ड के सिद्धान्तों का, इतिहास पुराणों में भक्ति (उपासना) काण्ड के सिद्धान्तों का एवम् उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र मूलक समस्त आस्तिक दर्शनों में ज्ञानकाण्ड के सिद्धान्तों का विस्तृतरूप में साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन हुआ है।

वेद को प्रमाण मानने वाले आस्तिक दर्शनों में वैशेषिक दर्शन, न्यायदर्शन, साङ्ख्यदर्शन, योगदर्शन, मीमांसादर्शन तथा वेदान्तदर्शन अन्तर्भूत हैं। उक्त सभी दर्शन, विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा जीवात्मा के निर्वाण अर्थात् मोक्ष को ही प्रधान उद्देश्य के रूप में स्वीकृत करते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार दुःखानुत्पाद ही मोक्ष है तथा न्यायदर्शन के अनुसार आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति मोक्ष है। सांख्य दर्शन के अनुसार जगद् विषयक भ्रम के निराकरण से तथा मूल प्रकृति विषयक यथार्थज्ञान (प्रमा) से उत्पन्न, आधिभौतिक, आधिदैविक एवम् आध्यात्मिक तीनों तापों (दुःखों) का अत्यन्ताभाव मोक्ष है तो योगदर्शन के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि में उपाधि रहित तथा क्लेश, कर्म, विपाकाशय से अपरामृष्ट

पुरुष विशेष का कैवल्य से प्रातिभान अर्थात् ध्याता, ध्यान तथा ध्येय का नितान्त ऐक्य (कैवल्य) ही मोक्ष है। मीमांसा दर्शन के अनुसार शरीर, इन्द्रिय तथा विषयों से सर्वथा विच्छिन्न अर्थात् पृथक् होकर जीवात्मा को स्वर्ग में नित्य सुखानुभूति होना ही मोक्ष है तथा वेदान्त (अद्वैत) दर्शन के अनुसार परब्रह्म के अंश रूप जीवात्मा के अविद्या से उत्पन्न, जगद्विषयक मिथ्या ज्ञान (विवर्त) की निवृत्ति होने पर, तत्त्वज्ञान के द्वारा उक्त जीवात्मा का परमात्मतत्त्व, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म में सालोक्य, सांगत्य, सामीप्य, सारूप्य अथवा सायुज्य ही मुक्ति मानी जाती है।

इस प्रकार मुक्तिविषयक दार्शनिक सिद्धान्तों की संक्षिप्ततम प्रस्तुति के उपर्यन्त मुक्ति के कैवल्य सिद्धान्त प्रतिपादक योगदर्शन के सिद्धान्त एवं साधना पक्ष के संक्षिप्त परिचय को यथामति सम्प्रति प्रस्तुत करना प्रासंगिक प्रतीत होता है।

योग शब्द की व्युत्पत्ति एवम् अर्थ

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज् धातु में भावार्थक घञ् प्रत्यय लगने से योग शब्द की निष्पत्ति होती है और इसके अर्थ संयोजन, मेलन, संयमन, कार्यप्रवणता, संयोग तथा समाधि होते हैं। पाणिनीय गणपाठ के अनुसार, दिवादि गणीय युज् धातु में घञ् प्रत्यय लगने पर व्युत्पन्न योग शब्द का अर्थ समाधि होता है। रुधादि गणीय युज् धातु में घञ् प्रत्यय लगने से निष्पन्न योग शब्द का अर्थ संयोग होता है तथा चुरादिगणीय युज् धातु में घञ् प्रत्यय लगने से निर्मित योग शब्द का अर्थ संयमन होता है। इस प्रकार गण भेद से योग शब्द के प्रमुख अर्थ समाधि, संयोग तथा संयमन होते हैं।

इसके अतिरिक्त युजिर् योगे इस धातु में कर्ता के अर्थ में घञ् प्रत्यय लगने से निष्पन्न योग शब्द का अर्थ 'संयोग' होता है तथा उसी धातु में करण के अर्थ में घञ् प्रत्यय लगने से व्युत्पन्न योग शब्द का अर्थ 'संयोग-करण' होता है। इस प्रकार पाणिनीय व्युत्पत्ति के अनुसार योग शब्द साध्य मुक्ति रूप जीवात्मा एवं परमात्मा के संयोग का वाचक तथा उसके साधन रूप ज्ञान, भक्ति एवं कर्म वाचक भी होता है।

इस सन्दर्भ में इस बात को स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है कि योग दर्शन की दृष्टि से समभिप्रेत एवं सम्मान्य योग शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य यौगिक अर्थों के अतिरिक्त कतिपय रूढ अर्थ भी पामर-अज्ञानी लोगों में ग्राह्य होते हैं, जैसे क्षुद्रसिद्धियां, इन्द्रजाल आदि; किन्तु ये सभी, योग शब्द के वास्तविक अर्थ नहीं हैं।

योग की व्याख्याएँ

१ **योगः संयोग इत्युक्तः जीवात्मपरमात्मनोः ॥** (विष्णुपुराणम्)

विष्णुपुराण के अनुसार जीवात्मा तथा परमात्मा का पूर्णतया मिलन ही योग (अद्वैतानुभूतियोग) कहलाता है।

२ **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।** (अभ्यासवैराग्याभ्याम्) **तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।** (पातञ्जलयोगसूत्रम् १-२-३)

पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार, अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा चित्त-वृत्तियों को बाह्य समस्त विषयों से निरुद्ध कर (पूर्णतया हटाकर) स्वरूप में अर्थात् परमात्मा के अंश के रूप में जीवात्मा को साक्षात्कृत कर अपने मूल स्वरूप में असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में शाश्वततया अवस्थित होना यह योग की दार्शनिक व्याख्या है।

३. **पुं प्रकृत्योर्वियोगेऽपि योगइत्यभिधीयते ॥** (सांख्यदर्शनम्)

सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति के पार्थक्य को स्थापित कर पुरुष का स्वतः के शुद्ध रूप में अवस्थित होना ही योग है।

४. **सिद्ध्यसिद्ध्योःसमोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥**

(भगवद्गीता २।४८)

भगवद्गीता के अनुसार, दुःख-सुख, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों से अतीत (मुक्त) होकर सर्वत्र समभाव से व्यवहार करना यह योग की एक व्याख्या है।

५. **तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥**

(भगवद्गीता २।५०)

भगवद्गीता के अनुसार कर्तव्य कर्म बन्धक न हो, एतदर्थ उसको भगवान् को समर्पित करते हुए तथा निष्काम भावना से अनुप्रेरित होकर

आजीवन सभी कार्यों को निभाते हुए मुक्ति की प्राप्ति का सतत प्रयत्न करना यह भी योग की व्याख्या प्रतिपादित है।

६. योग युक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ॥

(भगवद्गीता ५।७)

इस भगवदुक्ति के अनुसार विषय वासनाओं के त्याग के द्वारा पंच कर्मेन्द्रियों तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों पर पूर्ण विजय, मनोनिग्रह एवं तप से आत्मशुद्धि इन तीनों के समुच्चय को भी योग कहा जाता है।

७. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥ (भगवद्गीता ६।१)

कर्मफल की अपेक्षा न रखते हुए अर्थात् पूर्णतया निष्कामभावना से आजीवन कर्तव्य (विहित) कार्यों को करना यह भी योग कहलाता है।

८. तं विद्याद् दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम् ॥

(भगवद्गीता ६।२३)

समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा उसके साधनों को भी योग कहा जाता है।

९. शरीर एवम् आत्मा के ऐक्य-बुद्धि के निरास के साथ आत्मा के स्वतन्त्रतया प्रतिभान को भी योग कहा जाता है।

१०. जीवात्मा की सभी वासना बन्धनों से सर्वथा निवृत्ति को भी योग कहा जाता है।

११. योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु ॥

(अमरकोशः ३ काण्ड, नानार्थ २२)

पं० अमरसिंह के अनुसार योग शब्द कवच (संगठन), साम-दाम-भेद-दण्ड-उपाय, ध्यान, संगति तथा योजना इन अर्थों का वाचक है।

उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त कतिपय रूढ अथवा यौगिक व्यावहारिक अर्थों में भी योग शब्द का वाचक रूप में प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ रासायनिक योग, जिससे रासायनिक यौगिक (कम्पाउण्ड्स) तयार होते हैं। प्रकृति-प्रत्ययागत व्याकरण का योग, जिससे यौगिक शब्दों की व्युत्पत्ति होती है। गणितिक योग, जो अंक गणित के अभिन्न परिकर्म चतुष्टयान्तर्गत 'जोड' होता है। फलित ज्यौतिष के योग, जो अंशों के

अनुकूल द्वादश राशिगत ग्रहों की स्थिति, युति दृष्टि आदि के अनुसार शुभ-अशुभ फलदायक होते हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र के योग, जो औषध-पथ्य-आहार-विहार के योग, न्यूनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग तथा अयोग के रूप में महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

यह अत्यन्त कुतूहल का विषय है कि इस पार्थिव संसार के समस्त सृष्टि कार्य योग के द्वारा ही सम्पन्न एवं सफल होते हैं। उर्वरा भूमि, बीज, जल, प्रकाश आदि का सम्यक् योग सम्पूर्ण उद्भिद् सृष्टि के लिए तथा स्त्री बीज एवं पुरुष बीज का योग-संयोग समस्त प्राणि सृष्टि के लिए नितान्त अपेक्षित होता है। प्रतिक्षण होने वाले परमाणु (अॅटम) केन्द्र-गत प्रोटान, न्यूट्रान, मेसान, न्यूट्रिनो, एन्टिन्यूट्रिनो, फोटान, इलेक्ट्रान आदि के योगों-संयोगों से सृष्ठि के निर्माण का कार्य होता है तथा खगोलीय अवकाशस्थ विशालतम पिण्डों एवम् अकाश गंगाओं (गैलेक्सीज) में होने वाले कल्पनातीत रहस्य, योग (संयोजन-वियोजनात्मक) पर ही अवलम्बित होते हैं। प्रतिदिन हमारे उपयोग में आनेवाले सभी सुख के उपकरण तथा साधन, यदि हम मनोयोग पूर्वक समझें तो वैज्ञानिक तकनीकी, इलेक्ट्रॉनिकल तथा मैकेनिकल योग-संयोग-असेंब्लिग के ही प्रतिफल है। तात्पर्य इस संसार का जीवन चक्र योग-संयोग-संयोजन के के द्वारा सर्वदा गतिमान् रहता है।

योग की प्रमुख तीन विधाएँ

अधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक समस्त कार्यों के सम्पादन की भूमिका में कर्म-भावना-ज्ञान की शृंखला को अनन्य साधरण महत्त्व प्राप्त है। ज्ञान के बिना भाव (भावना) स्थिर नहीं होता तथा भाव-भावना-इच्छा के बिना ज्ञान कार्यरूप में परिणत नहीं होता। तात्पर्य मानव जीवन में ज्ञान-भाव-कर्म की अन्योन्याश्रित शृंखला सर्वदा उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से कार्यक्षम होती है। इसी कारण योग की भी विधाएँ ज्ञान, भाव, एवं कर्म पर आश्रित हैं। संस्कृत वाङ्मय में उक्त योग की प्रमुख तीन विधाएँ प्रतिपादित हैं। (१) ज्ञानयोग, (२) भक्तियोग तथा (३) कर्मयोग। ज्ञानयोग का अन्वाख्यान विशेष रूप से उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-वेदान्त दर्शन में हुआ है। भक्तियोग का निरूपण विशेषतया इतिहास-पुराणों में हुआ है तथा कर्मयोग का प्रतिपादन योग-दर्शन में हुआ है।

ज्ञानयोग

'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' इस महावाक्य के अनुसार तत्त्वज्ञान के विना मुक्ति कदाऽपि सम्भव नहीं होती। तात्पर्य जीवात्मा को तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। उक्त तत्त्वज्ञान सद्गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है। सद्गुरु से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति तभी सम्भव होती है, जब जिज्ञासु के स्थूल शरीर, सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर तथा महाकारणशरीर इन चारों शरीरों की तथा मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार रूप अन्तःकरण चतुष्टय की पूर्णतया शुद्धि होती है।

सप्तज्ञानभूमिकाएँ

योगवासिष्ठ, वेदान्तसिद्धान्तादर्श आदि ग्रन्थों के अनुसार शम-दम-आदि सम्पन्न सद्गुरु के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के साधन के रूप में ज्ञान की सात भूमिकाएँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

१. शुभेच्छा—इस भूमिका में, जिज्ञासु साधक सांसारिक विषयों से विरक्त होकर मुक्ति की इच्छा से तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के लिए गुरु के समीप उपस्थित होता है।

२. विचारणा—इस भूमिका में वैराग्यसम्पन्न, सदाचरणशील साधक, सद्गुरु के निकट आत्मतत्त्व विषयक सिद्धान्तों एवं रहस्यों का श्रवण-मनन करता है।

३. तनुमानसा—इस भूमिका में, सांसारिक विषयों के प्रति नितान्त अनासक्त, वैदान्तिक विषयों के प्रति निदिध्यासनप्रवण जिज्ञासु साधक का मन सूक्ष्मतम वैदान्तिक विषयों को यथार्थतया ग्रहण करता है।

ये तीन जाग्रद् भूमिकाएँ हैं, जिनमें जीवात्मा एवं परमात्मा (ब्रह्म) में पार्थक्य का भान होता है तथा इनसे तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होती है।

४. सत्त्वापत्तिः—इस भूमिका में साधक संशय-भ्रम से रहित होकर

निर्विकल्प ब्रह्म तथा जीवात्मा के ऐक्य का साक्षात्कार करता हैं। इसको सिद्धावस्था अथवा स्वप्नावस्था कहते हैं।

५ असंसक्तिः—इसमें साधक सविकल्पक समाधि के अभ्यास से सांसारिक विषयों को कुछ समय के लिए विस्मृत कर, मनो निग्रह के द्वारा निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में प्रविष्ट होता है। इसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं।

६ पदार्थाविभाविनी—इसमें साधक, सविकल्पक समाधि के निरंतर अभ्यास से सांसारिक विषयों को दीर्घकाल तक विस्मृत कर मनोनिग्रह से निर्विकल्पक समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। इसे प्रगाढ सुषुप्ति अवस्था कहते हैं।

७ तुर्यगा–इस भूमिका में साधक प्रापञ्चिक विषयों को सदा के लिए सर्वथा विस्मृत कर निरन्तर ब्रह्म का ध्यान करता है। यह ब्रह्मीभूत अवस्था होती है।

सारांश में, ज्ञानयोगी मुमुक्षु साधक मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रथमतः विवेक, वैराग्य, शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा-समाधान रूप षट् सम्पत्ति तथा मुक्ति की तीव्रतम अभिलाषा को स्वीकार करता है। इसके पश्चात् एकाग्रचित्त से श्रुति-उपनिषद्-प्रतिपादित मुक्तिसिद्धान्तों का श्रवण-मनन-निदिध्यासन करता है। इसके अनन्तर अहं 'ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के आशय एवं रहस्य का सूक्ष्म विचार-विनिमय करता है। इसके अनन्तर वह शब्द-दृश्यानुविद्ध सविकल्पक समाधि को और उसके पश्चात् अद्वैतभावनावृत्ति सहित समाधि को प्राप्त करता है। इसके अनन्तर अद्वैत भावनावृत्ति से रहित निर्विकल्पक समाधि को सिद्ध करता है। इसके पश्चात् अन्त में, स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर का त्यागकर परब्रह्ममें लीन हो जाता है। उसीको सद्योमुक्ति कहते हैं।

भक्ति योग

मोक्ष कारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यमिधायते ।। (विवेक चूड़ामणि: ३२)

आद्यभगवच्छंकराचार्य की इस उक्ति के अनुसार वर्तमान कलियुग में मुक्ति के कारणों में भगवद्भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ कारण है और स्वतः के स्वरूप का अर्थात् परमात्मा के अणुरूप जीवात्माका अनुसन्धान-निदिध्यासन को ही भक्ति कहा जाता हैं। तात्पर्य भगवद्भक्ति, जो आत्मतत्त्वज्ञान-प्रवण होती है, क्रम-मुक्ति का श्रेष्ठ साधन होने के कारण भक्तियोग कहलाती है ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्तेमे युक्ततमाः स्मृता : ।। (भगवद्गीता १२,२)

सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण के वचन के अनुसार मुझमें मन को लीन कर तथा भगवच्चरणारविन्दचञ्चरीक होकर नितान्त श्रद्धा पूर्वक जो भक्त सर्वदा मेरा ध्यान करते हैं, वे श्रेष्ठ भक्तियोगी होते हैं ।

समाधिसिद्धिः ईश्वर प्रणिधानात् ।। (पा० यो० सू० २।४५)

महर्षिपतञ्जलि के अनुसार भगवदुपासना जन्य भगवदनुग्रह से सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात उभयविध समाधि सिद्धि की प्राप्ति होती है। तात्पर्य उक्त समाधिसिद्ध क्रममुक्ति के भक्ति पथ को प्रदर्शित करने के कारण इस योगविधा का अभिधान 'भक्तियोग' अन्वर्थक प्रतीत होता है ।

भक्ति की व्याख्या

भक्तियोग के अन्तर्गत भक्ति की व्याख्याएँ निम्नलिखित समुपलब्ध होती हैं ।

१. भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः ।
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधन भूयसी ।। (पद्मपुराणम्)

भज धातु सेवा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः विद्वान् दिव्य कैंकर्य भाव सम्पन्न भक्त के द्वारा अनन्य भाव से की जाने वाली भगवत्सेवा को ही साधन भक्ति कहते हैं।

२. **भगवति मनः स्थिरीकरणम् भक्तिः ।**

कतिपय चिन्तकों के मतानुसार चिन्तन के माध्यम से ईश्वर के प्रति मनोवृत्ति की एकतानता को भक्ति कहते हैं।

३. **सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अमृतस्वरूप च ।** (नारदभक्तिसूत्रम्)

भक्तशिरोमणि देवर्षि नारद के अनुसार भक्ति ईश्वर विषयक उत्कट प्रेमरूप तथा परिणाम में अमृतरूप अर्थात् मुक्ति प्रदायक होती है।

४. **सा परानुरक्तिः ईश्वरे ।** (शाण्डिल्यभक्तिसूत्रम्)

परमभक्त शाण्डिल्य ऋषि के अनुसार भगवच्चरणारविन्द में सन्तत प्रगाढ़ अनुराग ही भक्ति है।

५. **द्रुतस्य भगवद्धर्माध्दारावाहिकतां गता ।**
सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते ॥ (भक्तिरसायन १।३)

भगवद् गुण-ऐश्वर्य आदि के श्रवण-मनन से प्रवाहित होने वाली भगवद् विषयिणी धारावाहिक मनोवृत्ति को भक्ति कहा जाता है।

६. **महात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः ।**
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिर्नचान्यथा ॥

(महाभारत तात्पर्यनिर्णयः)

भगवान् की सर्वश्रेष्ठता तथा सर्वशक्तिमत्ता को परिज्ञात करने से नितान्त स्थिर एवं दृढ स्नेह भाव को भक्ति कहते हैं। इसीसे मुक्ति की प्राप्ति होती है।

७. **मनोगति रविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोम्बुधौ ।**
लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्यह्यु्दाहृतम् ॥ (श्रीमद्भागवतम्)

जिस प्रकार गंगा की पुनीत जलधारा सतत प्रवाहित होकर समुद्र में विलीन होती है, उसी प्रकार जब मन की अविच्छिन्न-अनिरुद्ध स्नेह-वृत्ति भगवच्चरणों में विश्रान्त होती है, तभी यह मनोवृत्ति निर्गुणभक्ति-योगका श्रेष्ठ लक्षण मानी जाती है।

भक्ति के भेद

श्रीमद्भागवत् के अनुसार भक्ति के प्रमुख दो प्रकार होते हैं। (१) सगुणा, गौणी, वैधी, साधन भक्ति तथा (२) निर्गुणा, रागात्मिका, परा साध्य भक्ति। गुण भेद से सगुण भक्ति के स्थूलतया तीन भेद होते हैं। (१) तामसी भक्ति, (२) राजसी भक्ति, तथा (३) सात्त्विकी भक्ति। दम्भ, मत्सर, द्वेश आदि विकारों से प्रेरित होकर दूसरों के अहित की कामना से, जीवात्मा-परमात्मा में भेददर्शी भक्त के द्वारा समाराध्य के अर्चन-पूजन आदि रूप में जो भक्ति की जाती है वह तामसी होती है। विषयोपभोग, कीर्ति, ऐश्वर्य आदि उद्देश्यों की पूर्ति की लालसा से भेददर्शी भक्त के द्वारा सम्पादित अराध्य की उपासना राजसी भक्ति होती है। ये दोनों तामस एवं राजस भक्तियां विशेषतया वाम मार्ग की होती है। सांसारिक विषय वासनाओं से आलिप्त न होकर, पाप विनाश हेतु, ईश्वरार्पण बुद्धि से तथा मुक्ति की कामना से भेददर्शी भक्त के द्वारा की जाने वाली भगवदाराधना, सात्त्विकी भक्ति होती है। उपर्युक्त तीनों प्रकार की सगुणा भक्ति गौणी कही जाती है। क्योंकि ये तीनों भक्तियाँ जीवात्म-परमात्म-विषयक भेद ज्ञान पर समधिष्ठित तथा भक्तों के स्वभाव के अनुसार विभिन्न प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित होती हैं। उक्त तीनों भक्तियों में सात्त्विकी भक्ति श्रेष्ठतमा मानी जाती है। यह साधन भक्ति विशेषतया वर्तमान कलिकाल में सुलभ प्रतीत होती है।

यह सात्त्विकी साधन भक्ति साध्यावस्था में वेदान्त दर्शन प्रतिपादित आत्मतत्त्व-साक्षात्कार स्वरूप होती है। ऐसी स्थिति में भक्ति एवं तत्त्वज्ञान किसी भी दृष्टि से पृथक् प्रतीत नहीं होते। इतना होने पर भी यह सात्त्विकी भक्ति सगुणा ही होती है। इसमें, जब किसी भी प्रकार की मुक्ति की अभिलाषा नहीं होती तथा जीव-ब्रह्म में अभेद की प्रतीति होती है, तभी वह निर्गुणा या अहैतुकी भक्ति कहलाती है। इसमें निष्काम भगवद्-विषयक प्रेम-भावना ही केवल होती है। इसी को सर्वोत्तमा प्रेमा पराभक्ति कहते हैं।

पराभक्ति की विशेषतायें

क्लेशघ्नी, शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्द-विशेषात्मा श्री कृष्णाकर्षिणी च सा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धुः)

पराभक्ति का पूर्णरूप से उदय होने के पश्चात् सांसारिक समस्त दुःखों का नाश होता है। इससे शुभ अर्थात् परम सुख की प्राप्ति होती है। इस पराभक्ति के उदित होने पर मुक्ति भी तुच्छ प्रतीत होती है। फलतः उसके प्रति अनिच्छा हो जाती है और इस अहैतुकी प्रेमाभक्ति से युक्त भक्त सायुज्यमुक्ति की कामना न करते हुए सर्वदा भगवच्चरणारविन्द में मनको विलीन कर आनन्दमग्न रहता है। यह निर्गुणा प्रेमा भक्ति नितान्त कठिन साधना के द्वारा अत्यन्त दुर्लभतया प्राप्त होती है। इस भक्ति के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारजन्य परमानन्द से भी परार्धगुणित श्रेष्ठ आनन्द की प्राप्ति होती है। इस परा प्रेमा भक्ति के द्वारा भगवान् भक्त के वशीभूत रहते हैं।

भक्तों के प्रकार

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (भगवद्गीता ७।१६)

इस श्रीकृष्ण की उक्ति के अनुसार भक्त चार प्रकार के होते हैं।

१. अर्थार्थी—यह भक्त सकल विध भोग-सुख-ऐश्वर्य-अर्थ की लालसा से भगवद् भक्ति में प्रवृत्त होने के कारण चतुर्थ श्रेणी का होता है।

२. आर्त—यह भक्त मानसिक दुःख (आधि) तथा शारीरिक व्याधि जनित क्लेश-निवारण हेतु भगवद्-भक्ति में प्रवृत्त होने के कारण तृतीय श्रेणी का होता है।

३. जिज्ञासु—यह भक्त मुक्ति की अभिलाषा से परमात्मतत्त्व को ज्ञात करने के लिए भगवद्भक्ति में प्रवृत्त होने के कारण द्वितीय श्रेणी का होता है।

४. ज्ञानी—निष्काम बुद्धि से युक्त सदा भगवदानन्दसन्दोह-निमग्न ज्ञानी भक्त प्रथम श्रेणी का सर्वश्रेष्ठ होता है।

ज्ञानी भगवद्भक्त के लक्षण

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पित मनोबुद्धिः योमद्भक्तः स मेप्रियः ॥

(भगवद्गीता १२।१३-१४)

(१) समस्त प्राणियों के प्रति द्वेषभाव को न रखना, (२) उनके प्रति मित्रता का भाव होना, (३) करुणामय होना, (४) ममत्वभाव से रहित होना, (५) अहंकार से विहीन होना, (६) सुख-दुःख के प्रति समभाव होना, (७) क्षमाशील होना, (८) सन्तुष्ट रहना, (९) योग युक्त अर्थात् ईश चरणों में स्वतः को समर्पित करना, (१०) मन को वश में रखना, (११) दृढनिश्चयीं होना तथा (१२) भगवच्चरणारविन्द में मन एवं बुद्धि को स्थायी रूप से केन्द्रित करना। इन द्वादश लक्षणों से युक्त भक्त ही भगवदनुग्रह का पात्र होता है।

साधन भक्ति के भेद

वर्तमान कलियुग में श्रद्धासम्पन्न जन साधारण के लिए सुलभ साधन भक्ति श्रीमद्भागवत् में नवविधा प्रतिपादित है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ (७।५।२३)

(१) भगवत्कथा श्रवण, (२) भगवन्नाम गुण संकीर्तन, (३) भगवन्नाम-स्मरण, (४) भगवद्विग्रह का पाद प्रक्षालन, चरणतीर्थ ग्रहण, (५) भगवद् विग्रह का यथाशक्ति उपचारों के द्वारा पूजन-अर्चन, (६) हीन-दीन भाव-पूर्वक प्रपत्तियुक्त साष्टांग नमन-वन्दन, (७) भगवान् के प्रति दिव्यकिंकर रूप में दास्यभाव, (८) भगवान् के प्रति आत्मीयता का कैवल्यभाव तथा (९) भगवच्चरणों में अनन्य शरणा गति का भाव। नवविधा इन साधन भक्तियों में उत्तरोत्तर परिणाम स्वरूप होती हैं।

तात्त्विक रूप से यह नवविधा साधन भक्ति तीन विभागों में विभक्त की जाती है। (१) नामभक्ति, (२) विग्रहभक्ति तथा (३) भावभक्ति। नामभक्ति में श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण भक्ति अन्तर्भूत होती है। विग्रह भक्ति में पादसेवन अर्चन एवं वन्दन भक्ति समाविष्ट होती है तथा भावभक्ति में दास्य, सख्य एवम् आत्मनिवेदन भक्ति अन्तर्भूत होती हैं।

कलियुग में नाम भक्ति का महत्त्व

कलिसन्तरणोपनिषद्, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, बृहन्नारदीय पुराण आदि में भगवन्नाम संकीर्तन का महत्त्व विशेषतया प्रतिपादित है।

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्यकेशवम्॥

(विष्णुपुराणं ६।१।१७)

तात्पर्य यह है कि सत्ययुग (कृतयुग) में ध्यान-समाधि के द्वारा, त्रेतायुग में यज्ञयागों के द्वारा तथा द्वापरयुग में अर्चन-पूजन के द्वारा प्राप्त होने वाले मुक्ति रूप फल की वर्तमान कलियुग में केवल भगवन्नाम संकीर्तन से प्राप्ति होती हैं।

सारांश में, सर्वप्रथम साधक भक्तियोगी उक्त नवविधा साधन भक्ति का मनोयोग पूर्वक अभ्यास करता है। इसके पश्चात् स्वतः की अभिरुचि, प्रकृति, साधनयोग्यता, परिस्थिति, परिसर आदि के अनुसार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भावों में से किसी एक भक्ति भाव को भक्त स्वीकृत करता है। उक्त भक्तिभावान्यतम की सम्पूर्ण प्रकृष्ट परिपाकावस्था में भक्तियोगी सालोक्य, साङ्गत्य, सामीप्य, सारूप्य अथवा सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होता है। यह मुक्ति क्रममुक्ति होती है, सद्यो-मुक्ति नहीं। इस क्रममुक्ति में भक्तियोगी जीवात्मा महाप्रलय पर्यन्त ब्रह्मलोक में ही रहता है। इसके पश्चात् निर्गुण परब्रह्म में विलीन हो जाता है।

•

कर्मयोग

कर्मयोग के विषय में प्रतिपादन करने के पूर्व सम्पूर्णयोग विषयक इस तथ्य को स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक एवं प्रसङ्गानुरूप प्रतीत होता है। ज्ञानयोग का साध्य, अविद्याजन्य अज्ञान को विद्या के द्वारा नष्ट कर आत्मतत्त्वज्ञान की प्राप्ति, इससे जीवात्मा एवं परमात्मा के भेद के मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति तथा इससे जीवात्मा तथा परमात्मा की अद्वैतसिद्धि (मुक्ति, निर्वाण); भक्तियोग का साध्य, अन्तःकरण की विषयासक्त वृत्तियों को निरुद्ध कर तथा भक्ति साधना के द्वारा अन्तः-करण को निर्मल कर उसमें भगवान् के स्वरूप का अनुभव एवं भगवद-नुग्रह से मुक्ति तथा कर्मयोग का साध्य, त्रिपुटी साधना के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधिसिद्ध जीवात्मा एवं परमात्मा में अभेद (कैवल्य) ये तीनों वास्तविक रूप में एक ही है, किन्तु इनके साधनामार्ग ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग स्थूल तथा आंशिक रूप में पृथक्-पृथक् माने गये हैं। तास्तत्त्विक दृष्टि से विचार करने पर उक्त तीनों विधाएँ स्वतन्त्रतया पृथक् न होकर पारस्परिक अङ्गाङ्गिभावापन्न प्रतीत होती हैं। ज्ञान के विना भक्ति तथा कर्म, भक्ति के विना ज्ञान एवं कर्म तथा कर्म के विना ज्ञान एवं भक्ति सर्वथा अपूर्ण है। यथार्थतः ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग यें तीनों विधाएँ अन्योन्यानुपूरक, अन्योन्याश्रित एवम् अन्यो-न्यानुबन्धी होने के कारण उनके सम्पूर्ण सामञ्जस्य से ही 'सम्पूर्ण योग' की उपलब्धि एवं सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

कर्मयोग के भेद

योगदर्शन के अनुसार कर्मयोग के प्रमुख चार भेद प्रतिपादित हैं। (१) मन्त्रजपयोग, (२) लययोग, (३) हठयोग तथा (४) राजयोग।

मन्त्रजपयोग

तस्य वाचकः प्रणवः । तज्जपस्तदर्थभावनम् (१ । २७-२८)

इस पातञ्जलयोग सूत्र के अनुसार, निरन्तर अभ्यास के द्वारा मनोनिग्रह पूर्वक सांसारिक समस्त विषयों से चित्त वृत्तियों को परावृत्त कर प्रणव-व्याहृतिपूर्वक गुरूपदिष्ट मन्त्र का अनन्य एवम् एकाग्र चित्त से जप करते हुए मन्त्र के देवता अर्थात् ध्येय का सतत ध्यान करना तथा अन्त में ध्येय (परमात्मा) रूप हो जाना मन्त्रजपयोग का प्रमुख उद्देश्य है। नामरूपात्मक इस जड़ विश्व में अविद्या से भ्रमित अज्ञानी मानव, नामरूपातीत परमात्मतत्व की प्राप्ति के लिए मन्त्रजपयोग के द्वारा अविद्या के प्रभाव से मुक्त होकर मन्त्र-देवता के प्रति एकाग्रचित्त एवं सन्तत उन्मुख होता है तथा फलस्वरूप मन्त्रजपयोग की सिद्धावस्था में साधक (ध्याता), मन्त्रजपसाधना (ध्यान) तथा आराध्य मन्त्र देवता (ध्येय) में नितान्त ऐक्य प्रस्थापित करने में सिद्ध होता है। अन्त में परमाराध्य परमात्मतत्त्व में लीन होकर मुक्त हो जाता है।

भगवन्नाम संकीर्तन एवं मन्त्रजपयोग

नवविधा गौणी साधन भक्ति के अन्तर्गत नाम भक्ति के प्रमुख अङ्ग भगवन्नामस्मरण एवं भगवन्नामसंकीर्तन तथा मन्त्रजपयोग ये दोनों पूर्णतया परस्पर पृथक हैं। भगवन्नामस्मरण-कीर्तन के समय अराध्य का अभीप्सित स्वरूप, ऐश्वर्य गुण आदि का मानस पटल पर उद्बुद्ध होना नितान्त आवश्यक होता है, किन्तु मन्त्रजपयोग में, दीक्षा, भक्ति, शुद्धि, आसन पञ्चाङ्ग आदि की गहन अनिवार्यता, आराध्य के प्रति अनन्य भावपूर्ण सन्तत ध्यान वृत्ति की एकतानता तथा साधना की परिपाक दशा में त्रिपुटी को स्वीकृत करते हुए ध्याता-ध्यान-ध्येय में ऐक्य का भान नितान्त अपेक्षित होता है, जो भगवन्नामस्मरण-कीर्तन में अपेक्षित नहीं होता।

जपयज्ञ (मन्त्रजप) का महत्त्व

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः ॥ (२ । ८४)

इस मनुस्मृति के वचन के अनुसार विधियज्ञों से (श्रौतस्मार्तयज्ञों से) वाचिक जपयज्ञ (वाचिक मन्त्रजप) दशगुणित श्रेष्ठ होता है। उपांशु (दूसरों को न सुनाई देने वाला) जपयज्ञ शतगुणित श्रेष्ठ होता है तथा मानसिक जपयज्ञ सहस्रगुणित श्रेष्ठ फल प्रदायक होता है। सम्प्रति जपयज्ञ का तात्पर्य मन्त्रजपानुष्ठान (साधना-योग) से है।

मन्त्रजपयोग के प्रमुख साधन मन्त्र, मुख्यरूप से दो प्रकार के होते हैं। (१) वैदिक मन्त्र तथा (२) अवैदिक मन्त्र। सहस्राधिक वैदिक मन्त्रों में प्रणव व्याहृति सहित गायत्री मन्त्र सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसी गायत्री मन्त्र के उपदेश से उपनयन संस्कार में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को द्विजत्व की प्राप्ति होती है। इस गायत्री मन्त्र के अधिष्ठातृ देवता सहस्ररश्मि भगवान् सूर्य नारायण हैं।

'गायन्तं त्रायत इति गायत्री' इस शब्दानुशासनिक व्युत्पत्ति के अनुसार अधिकाधिक जप साधना (पुरश्चरणात्मक) करने से साधक को योगक्षेम प्रदान करने वाली गायत्री है। अथवा

'गयः प्राण इति प्रोक्तः तस्यत्राणादपीतिवा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जीवन संरक्षक-संवर्धक के रूप में गायत्री मन्त्र का महत्त्व अनन्यसाधारण प्रतीत होता है।

अवैदिक मन्त्रों में पौराणिक मन्त्र, तान्त्रिक मन्त्र, आगममन्त्र, शाबर मन्त्र, अघोरमन्त्र, क्षुद्रमन्त्र आदि अन्तर्भूत होते हैं। मन्त्र का वास्तविक तात्पर्य मनन में पर्यवसित है। जिस मन्त्र की मातृका शक्ति का, उसके छन्द, ऋषि तथा देवता का अधिकाधिक रूप में मनन किया जाता है, वह मन्त्र सत्वर सिद्ध होता है।

मन्त्रयोग के आचार्य

मन्त्रजपयोग के प्रमुख आचार्य एवं प्रवक्ता निम्नलिखित परिज्ञात होते हैं :-(१) वसिष्ठ, (२) कश्यप, (३) गर्ग, (४) भरद्वाज, (५) नारद, (६) अगस्त्य, (७) अंगिरा, (८) शुक्र, (९) शाण्डिल्य तथा (१०) बृहस्पति।
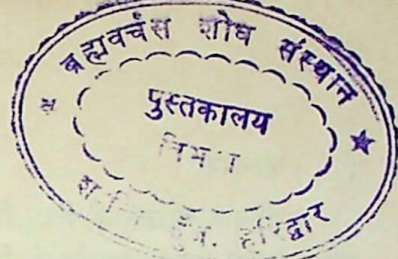
मन्त्रजपयोग के अङ्ग

(१) दीक्षा

सद्गुरु से यथाविधि मन्त्रोपदेश के ग्रहण को दीक्षा कहते हैं। साधक शिष्य की सद्गुरु पर श्रद्धा नितान्त आवश्यक होती है। दीक्षा का तात्पर्य यह है कि मन्त्रोपदेश के माध्यम से सद्गुरु शिष्य को ज्ञान के रहस्यों से अवगत कराता है तथा उसके समस्त पापों को क्षीण करता है।

(२) भक्ति

साधक मन्त्रजपयोगी की परमाराध्य के प्रति नवविधा सगुणा साधन भक्ति अथवा पराप्रेमा भक्ति रूप परानुरक्ति भक्ति कहलाती है। इस साधनविधा में यह अनिवार्य होती है।

(३) शुद्धि

मन्त्रजपयोगी साधक को साधना की निर्विघ्नता के लिए दिशा, स्थान, शरीर एवं मन की शुद्धि नितान्त अपेक्षित होती है। दिन में पूर्वाभिमुख एवम् उत्तराभिमुख तथा रात्रि में उत्तराभिमुख बैठकर साधना करने से दिक्शुद्धि होती है। स्थान शुद्धि मन्दिरों में, पवित्र स्थानों में, नदी-सरोवर-तटपर, गोमय से लिप्त एकान्त कुटी में हरिणाजिन कुशासन पर तथा बिल्व, अशोक, अश्वत्थ आदिवृक्षों के तल में होती है। साधक के शरीर की शुद्धि स्नान से होती है। यें स्नान भौम, वारुण, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, मानस तथा मान्त्र ऐसे सात प्रकार के होते हैं। इनमें वारुण (जल) स्नान विशेषतया प्रचलित है।

(४) आसन

मन्त्रजपयोगी साधक के देह की स्थिरता के लिए स्वस्तिकासन एवं पद्मासन विहित है।

(५) पञ्चाङ्गपाठ

पटल, पद्धति, स्तोत्र, कवच एवं सहस्रनाम का नित्य पाठ मन्त्रजपयोगी का पापक्षालन करता है और उसे साधना में अग्रेसर करता है।

(६) आचार

सात्त्विक साधक के लिए दिव्याचार, राजस साधक के लिए दक्षिण-आचर तथा तामस साधक के लिए वाम-आचार विहित है।

(७) धारणा

धारणा दो प्रकार की होती है। (१) अन्तर्मुखी तथा (२) बहिर्मुखी। आत्मचिन्तनप्रवण मन की एकाग्रता अन्तर्मुखी धारणा कहलाती है तथा सगुण विग्रहप्रवण मन की एकाग्रता बहिर्मुखी होती है। धारणा की सिद्धि से दिव्य देश में परमाराध्य का आविर्भाव होता है। आराध्य देव विग्रह, मूर्ति अथवा चित्र से प्रकट होकर साधक मन्त्रजपयोगी से वार्तालाप करते हैं तथा अभीप्सित वर को देते हैं।

(८) दिव्य संस्थिति

जपसिद्धि के लिए मन्दिर आदि सात्त्विक पवित्र स्थान तथा देवता-सान्निध्य दिव्यदेश के रूप में नितान्त अपेक्षित होता है। अतः मन्त्र-जपयोग साधक अपनी साधना के लिए मन्दिर तीर्थस्थान आदि दिव्यदेश में निवास करता है।

(९) प्राणायाम

यह पूरक-कुम्भक-रेचक तीन अंगों का होता है। इससे इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाडियों का कार्य सम्यक्तया होकर प्राण का संयमन होता है, जो साधक के लिए अत्यन्त अपेक्षित होता है।

(१०) न्यास

कराङ्गुलिन्यास, अङ्गन्यास, मातृकान्यास, ऋषिन्यास आदि से शरीर एवं मन की शुद्धि होकर साधक के अंग-प्रत्यंगों में तत्सम्बद्ध देवताओं का वास होता है।

(११) मुद्रा

साधक की हस्त मुद्राएँ आराध्य एवं सम्प्रदाय के भेद से भिन्न-भिन्न होती हैं। मुद्राओं के प्रदर्शन से आराध्य देवता प्रसन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त विग्रह-मूर्तियों के भेद के अनुसार वर, अभय, धनुष्य-बाण, शंख, चक्र, गदा, पद्म, त्रिशूल, पाश, अंकुश, खड्ग, परशु आदि मुद्राएँ भी अनेक हैं।

(१२) **पूजन**

साधक को प्रतिदिन मन्त्र जपानुष्ठान के पूर्व इष्ट-आराध्य का मानसपूजन अथवा पञ्चोपचार से लेकर अष्टोत्तरशत उपचारों के द्वारा वाह्यपूजन करना चाहिए।

(१३) **हवन**

हवन से इष्ट देवता की तृप्ति होकर सिद्धियों का लाभ होने के कारण साधक को इष्ट देवता के प्रीत्यर्थ मूल मन्त्र से सोलह घृताहुतियों को प्रज्वलित अग्नि में देना नितान्त आवश्यक होता है।

(१४) **तर्पण**

साधक को इष्ट एवम् आराध्य देव के तर्पण के साथ ऋषितर्पण तथा पितृतर्पण करना श्रेयस्कर होता है। इससे इष्टदेव, ऋषि एवं पितरों की तृप्ति होकर उनकी कृपा से जप साधना में सफलता प्राप्त होती है।

(१५) **बलि**

बलि तीन प्रकार के प्रतिपादित हैं। (१) आत्मबलि, (२) काम-क्रोधादिषड्रिपुबलि तथा (३) नारिकेल आदि फल-बलि। इससे समस्त विघ्नों की शान्ति तथा इष्टदेव की प्रसन्नता की साधक को प्राप्ति होती है।

(१६) **जप**

मन्त्र जप योगी साधक के लिए मुख्यरूप से तीन प्रकार का जप विहित है। (१) वाचिक, (२) उपांशु तथा (३) मानस जप। वाचिक जप दूसरों को सुनाई देता है, अतः कनिष्ठ श्रेणी का माना जाता है। उपांशुजप केवल स्वतः को श्रुतिगोचर होने के कारण मध्यम कोटि का होता है। मानस-जप अश्राव्य (स्वतः को भी न सुनाई देने वाला) होने के कारण श्रेष्ठ माना गया है। मानसिक-जप से ही आराध्यध्येय के प्रति एकतान धारणा सम्भव होती है और फलतः ध्यान-समाधि के लिए अनुकूल स्थिति अथवा भूमिका का निर्माण होता है। साधक की सुविधा एवं अनुष्ठान के विधान के अनुसार पर्वमाला, अंगुलिमाला, अक्षमाला, तुलसीमाला, चन्दनमाला आदि प्रयुक्त होते हैं।

जप के स्थूल प्रकार

१. नित्य जप, २. नैमित्तिक जप, ३. अविहित (निषिद्ध) जप, ४. प्रायश्चित्त जप, ४. अचल जप, ६. चल जप, ७. वाचिक जप, ८ उपांशु जप, ९. मानसिक जप, १०. भ्रामर जप, ११. काम्य जप, १२. अखण्ड जप, १३. अजपा जप तथा १४. प्रदक्षिणा जप।

(१७) स्थूलध्यान

मन्त्र जप योगी साधक ध्यान से अपने इष्ट देव का साक्षात्कार करता है। इसके लिए साधक के मन की आराध्य के प्रति सन्तत एकाग्रता अपेक्षित होती है। साधक का मन यदि एकाग्र-एकतान न हुआ, तो वह बन्धक हो जाता है। एकाग्र-एकतान होने की स्थिति में ही ध्यान मोक्षका साधन होता है। परमात्मा केवल ध्यान से ही वशीभूत होता है।

(१८) महाभाव समाधि

मन्त्रसिद्धि के द्वारा मन, मन्त्र तथा आराध्यदेव का पार्थक्य से बोध इस समाधि अवस्था में साधक को नहीं होता। तीनों एक दूसरे में विलीन हो जाते है। तात्पर्य ध्याता, ध्यान, ध्येय रूप त्रिपुटी का लय हो जाता है तथा फलस्वरूप साधक जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करता है।

लययोग

इस कुण्डलिनी लय योग के सिद्धान्त के अनुसार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की लघुतम प्रतिकृति मानव पिन्ड होती है। ब्रह्म की पराशक्ति का प्रभावात्मक विलास जिस प्रकार ब्रह्माण्ड है, उसी प्रकार मानव पिण्ड भी है। ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश भुवन आदि के पीठ मानवपिण्ड में विद्यमान होते हैं। अन्नमय प्राणमय मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय पञ्चकोष के आवरण की शिथिलता से ही मानवपिण्ड किसी भी अभिलषित लोक से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार मानवपिण्ड के मूलाधारस्थित चतुर्दल पद्मचक्र में कुण्डलिनी नामक ब्रह्म शक्ति सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है। अविद्या के प्रभाव से यह सुप्तशक्ति अर्ध जागृत होकर अधोमुखी होती है तथा विषय वासनाओं को तीव्ररूप में उत्तेजित करती है। फलस्वरूप रजोवीर्य (ओवम्-स्पर्म) जनित बैजिक सृष्टि का सृजन करती हैं। इसके विपरीत लय योग के सिद्धान्त के अनुसार साधना की परिपक्व दशा में मानवपिण्ड के मूलाधार चक्र में स्थित यही ब्रह्मशक्तिकुण्डलिनी (पार्वती) मेरुदण्ड (स्पाइनलकार्ड) के अन्तर में स्थित सुषुम्ना के अन्तर्गत ब्रह्मनाडी से होती हुई षट्चक्रों को भेद कर मस्तक में स्थित सहस्रदल पद्म (सहस्रारचक्र) में अवस्थित परब्रह्म शिवतत्त्व में लीन हो जाती है। इस प्रकार शिव में शक्ति का लय कर मुक्ति प्राप्त करने की विस्तृत यौगिक साधना को लय योग कहते हैं।

जीवात्मा कुण्डलिनी शक्ति एवं प्राण शक्ति के साथ माता के गर्भाशय में गर्भाधान के छः मास के पश्चात् प्रविष्ट होता है। प्रारब्ध कर्मों के अनुसार जीवात्मा अपने साथ शोभन-अशोभन संस्कारों को भी लाता है। जिस प्रकार गृह निर्माण का कार्य पूर्ण होने तक गृह का अधिपति बाहर ही रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी गर्भ (भ्रूण) की पूर्ण वृद्धि होने तक माता के निकट मंडराता रहता है, अपूर्ण गर्भ में प्रविष्ट नहीं होता। पूर्ण विकसित गर्भ में जीवात्मा के साथ प्रविष्ट होते हुए कुण्ड-

लिनी शक्ति प्रथमतः सहस्रारचक्र में अपना प्रमुख स्थान निश्चित करती हुई तथा प्राणशक्ति के साथ षट्चक्रों में तथा अन्य समस्त रन्ध, कूप एवं कुहरों में प्रविष्ट होकर पूर्ण विकसित गर्भ को चेतन करती हुई अन्त में मूलाधार में साढ़े तीन कुण्डल बनाकर सुषुप्त एवं साम्यावस्थापन्न हो जाती है। मानव की सामान्य व्यावहारिक दशा में यह कुण्डलिनी शक्ति अधोमुख होकर प्रजासृष्टि का कार्य करती है तथा उन्नत साधनावस्था में यह शक्ति ऊर्ध्वमुख होकर सुषुम्ना-ब्रह्मनाड़ी से प्रवहमान होकर षट्चक्रों से होती हुई मस्तिष्क में स्थित सहस्रार चक्र में प्रविष्ट होती है एवं सम्पूर्ण मानव शरीर को नितान्त प्रभावित, स्पन्दित तथा चेतन करती है।

कुण्डलिनी शब्द की व्युत्पत्ति

शब्दानुशासन के अनुसार कुण्डलिनी शब्द की व्युत्पति दो प्रकार की उपलब्ध होती है।

(१) कुण्डले अस्याः स्त इति कुण्डलिनी।

वामा इडा चन्द्र नाडी तथा दक्षिणा पिंगला सूर्य नाडी इन दो नाडियों का सुषुम्ना अग्नि नाडी में प्रवहित शक्ति का कुण्डल अर्थात् सम्पुट होने के कारण उक्त शक्ति कुण्डलिनी कहलाती है।

(२) सार्धत्रीणि कुण्डलानी सन्ति अस्या इति कुण्डलिनो।

मूलाधार को साढ़े तीन वलयों से लपेट कर प्रसुप्त रहने वाली शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप

कुण्डलिनी शक्ति के स्वरूप का वर्णन, योगकुण्डल्युपनिषद् योग-शिखोपनिषद्, ज्ञानार्णवतन्त्र, वामकेश्वरतन्त्र, घेरण्ड संहिता, ललिता सहस्रानाम, लघुस्तुति, षट्चक्रनिरूपण, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में हमें उपलब्ध होता है। कुण्डलिनी वर्णन के सन्दर्भ में प्रायः सभी ग्रन्थों में किये हुए वर्णन का सारांश इस प्रकार है।

गुद एवम् अण्डकोष अथवा योनि के मध्य में स्थित मूलाधार चक्र के कन्द को, कमलनाल के समान कोमल, किन्तु अत्यन्त देदीप्यमान एवं

प्रदीप्त, साढ़े तीन वलय देकर सर्प के समान ब्रह्मनाड़ी के विवर में कुण्डलिनी शक्ति सुप्त एवं साम्यावस्था में अवस्थित होती है।

इस प्रसङ्ग में कुण्डलिनी शक्ति से सम्बद्ध कतिपय तथ्य परिज्ञात करने के योग्य प्रतीत होते हैं।

सद्गुरु के द्वारा दीक्षा प्राप्त सुयोग्य साधक की समुचित साधना से कुण्डलिनी शक्ति के व्यक्त एवं जागृत होने पर अत्यन्त तीव्र गति उत्पन्न होती है। इस गति से जो प्रथम स्फोट होता है, उसे 'नाद' संज्ञा दी गयी है। उक्त नाद से प्रकाश का अविर्भाव होकर उसका अभिव्यक्तरूप महा बिन्दु होता है। इन नाद के तीन प्रकार माने गये हैं। १. महानाद २. नादान्त तथा ३. निरोधिनी। बिन्दु के भी तीन भेद होते हैं। ज्ञान-इच्छा-क्रिया, सूर्य-चन्द्र-अग्नि तथा ब्रह्मा-विष्णु-शिव। जीव सृष्टि में उत्पन्न होने वाले नाद को ओंकार माना गया है। इसी को शब्द ब्रह्म भी कहते हैं। उक्त ओंकार से (प्रणव से) बावन मातृकाएँ उत्पन्न हुई हैं। इनमें पचास मातृकाएं अक्षररूप हैं। इक्यावनवी मातृका प्रकाशरूप है तथा बावनवी मातृका प्रकाश का प्रवाह है। इसी बावनवी मातृका को सत्रहवीं जीवन कला कहते हैं। प्रागुक्त पचास मातृकाएं अनुलोम एवं प्रतिलोम विधाओं से शत संख्याक होती हैं। ये ही शत मातृकाएं कुण्डलिनी के शत कुण्डल हैं। उक्त शत मातृका कुण्डलों से युक्त कुण्डलिनी शक्ति से चैतन्यमय जीवातमा, देह-इद्रिय आदि से संयुक्त होकर प्राणशक्ति के साथ पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष का अधिपति होता है।

कुण्डलिनी लययोग के नव अंग

(१) यम

अहिंसा (मन, वचन तथा कर्म से किसी को भी कष्ट न पहुंचाना), सत्य (सर्वदा सप्रमाण यथार्थ किन्तु प्रिय भाषण करना), अस्तेय (पर द्रव्य का अपहरण एवं अनुमति के बिना परकोय वस्तुओं का ग्रहण न करना), ब्रह्मचर्य (पंच ज्ञानेन्द्रियों तथा पञ्चकर्मेन्द्रियों का संयमन करना एवं युक्त आहार-विहार करना) तथा अपरिग्रह (अनावश्यक एवं तुच्छ पदार्थो का संग्रह न करना एवं जीवन रक्षक वस्तुओं का भी आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना)।

(२) नियम

शौच (शरीर की अन्तर्वाह्यशुद्धि तथा मनःशुद्धि), सन्तोष (प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए जीवन रक्षक वस्तुओं से सन्तुष्ट रहना), तप (शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि में समभाव रखना तथा संयमित एवं नियमित जीवन को व्यतीत करना), स्वाध्याय (तत्त्वज्ञान के लिए आवश्यक अध्ययन-अध्यापन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना), तथा ईश्वर प्रणिधान (भगवद्भक्ति तथा समस्त कार्यों को भगवच्चरणों में समर्पित करना)।

(३) स्थूल क्रिया (आसन)

इसमें प्रमुखतया स्वस्तिकासन अथवा पद्मासन पर चिरकालतक निश्चल बैठने से आसन-सिद्ध होता है।

(४) सूक्ष्मक्रिया (स्वरसाधना)

मानव शरीर में वहत्तर सहस्र नाडियाँ होती हैं। इनमें इडा चन्द्र-नाडी, पिंगला-सूर्यनाडी तथा सुषुम्ना-अग्निनाडी महत्त्वपूर्ण होती हैं। सुषुम्नानाडी के आभ्यन्तर वज्रानाडी, अुसके अन्दर चित्रिणी नाडी तथा उसके भी अन्तर्गत ब्रह्म नाडी होती है। सूक्ष्मक्रिया में इडा एवं पिंगला नाडियों में प्रवहित चन्द्रस्वर तथा सूर्यस्वर की शुद्ध रूप से साधना होती है। इसी प्रकार उक्त चन्द्र-सूर्य स्वरों में उदित पृथ्वी, जल, तेज एवं वायुतत्त्वों की भी साधना होती है।

(५) प्रत्याहार

मनुष्य के शरीर पर लगभग साढेतीन कोटि रोम होते हैं। लययोगी साधक जब सद्गुरु के द्वारा समुपदिष्ट भगवन्नाम का जप साढेतीन कोटि संख्या में करता है, तब उसके लिए अनहद नाद प्रकट होता हैं। यह नाद मेघगर्जन के समान गहन-गंभीर होता है तथा इसके अनुसन्धान से अन्त में नाद ब्रह्मरूप ओंकार नाद का साक्षात्कार होकर धारणा के लिए भूमिका प्रशस्त होती है।

(६) धारणा

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा चक्रों से (सुषुम्ना ग्रन्थियों से) अग्नि नाडी सुषुम्ना के गर्भ में स्थित ब्रह्म-

नाडी में प्रवहमान जागृत, ऊर्ध्वगामिनी कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा पारगमन (भेदन) की क्रिया इस अंग में सम्पन्न होती हैं।

(७) ध्यान

लययोगी साधक के मस्तिष्क में स्थित सहस्रदलपद्म (सहस्रारचक्र) गत ब्रह्मरन्ध्र में शिव का अनन्य एकतान ध्यान होता है।

(८) लयक्रिया

इस अंग में, लययोगी साधक, साधना की परिपक्वावस्था में ऊर्ध्व गामिनी कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा षट्चक्रभेदन के पश्चात् मस्तिष्क में अवस्थित सहस्रदलपद्मगत ब्रह्मरध्र में स्थित शिव में उक्त कुण्डलिनी शक्ति की लयक्रिया को सम्पन्न करता है।

(९) महालय समाधि

इसमें उक्तलयक्रिया के पूर्ण होने के पश्चात् त्रिपुटी का भी लय होकर जीवात्मा का परमात्मतत्त्व शिव में महालय होता है तथा अन्त में परम-पद मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।

षट्चक्र वर्णन

(१) मूलाधारचक्र (पेल्विक् प्लेक्सस)

यह लिंग अथवा योनि स्थान में होता है। यह चतुर्दल पद्मरूप है तथा इसका वर्णरक्त है। इसका भू लोक हैं। पद्मदलों के अक्षर वं शं षं सं है। इसका तत्त्व पृथ्वी है तथा गुण गन्ध है। तत्त्वबीज लं है। बीज का वाहन ऐरावत हस्ति है। इसका देव ब्रह्मा है तथा शक्ति डाकिनी है। इसका यन्त्र चतुष्कोण है। ज्ञानेन्द्रिय नासिका है तथा कर्मेन्द्रिय गुद है। इस मूलाधार चक्र के केन्द्र में स्थित स्वयम्भू लिंग को साढेतीन वलय बनाती हुई, ब्रह्मनाडी की ओर सर्पिणी के समान उन्मुख, कमल-नालरूप कुण्डलिनी शक्ति महाप्रकृति के साथ विद्यमान होती है।

(२) स्वाधिष्ठान चक्र (हाइपोगैस्ट्रिक प्लेक्सस)

इसका स्थान पेडू है। यह षट्दल पद्म है तथा इसका वर्ण सिन्दूर है। इसका भुवर्लोक है। पद्मदलों के अक्षर बं भं मं यं रं लं है। इसका तत्त्व जल है तथा गुण रस है। तत्त्व बीज वं है तथा बीज का वाहन

मकर है। इसका देव विष्णु है तथा उसकी शक्ति राकिनी है। इसका यन्त्र गोल है। ज्ञानेन्द्रिय रसना है तथा कर्मेन्द्रिय लिंग है।

(३) मणिपूरक चक्र (एपिगैस्ट्रिक प्लेक्सस)

इसका स्थान नाभि है। यह दशदल पद्म है तथा इसका वर्ण नील है। इसका स्वर्लोक है। पद्मदलों के अक्षर डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं हैं। इसका तत्त्व अग्नि है तथा गुण रूप है। तत्त्व बीज रं है। बीज का वाहन मेष है। इसका देव वृद्धरूद्र है तथा उसकी शक्ति लाकिनी है। इसका यन्त्र त्रिकोण है। ज्ञानेन्द्रिय चक्षु है तथा कर्मेन्द्रिय चरण है।

(४) अनाहत चक्र (कार्डियाक प्लेक्सस)

इसका स्थान हृदय है। यह द्वादशदलपद्म है तथा इसका वर्ण अरुण-रक्तिम है। इसका महर्लोक है। पद्मदलों के अक्षर कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं हैं। इसका तत्त्व वायु है तथा गुण स्पर्श है। तत्त्व बीज यं है तथा उसका वाहन मृग है। इसका देव ईशानरुद्र है तथा उसकी शक्ति काकिनी है। इसका यन्त्र षट्कोण है। ज्ञानेन्द्रिय त्वचा तथा कर्मेन्द्रिय हस्त है।

(५) विशुद्धिचक्र (कैरोटिड् प्लेक्सस)

इसका स्थान कण्ठ होता है। यह षोडशदल पद्म है तथा धूम्रवर्ण है। इसका जन लोक है। पद्म दलों के अक्षर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः है। इसका तत्त्व आकाश है तथा गुण शब्द है। तत्त्व बीज हं है। उसका वाहन हस्ति है। इस चक्र का देव पञ्चवक्त्र है तथा उसकी शक्ति शाकिनी है। इसका यन्त्र शून्य गोलाकार है। इसका ज्ञानेन्द्रिय कर्ण तथा कर्मेन्द्रिय वाक् है।

(६) आज्ञाचक्र(मेड्यूला)

इसका स्थान भ्रूमध्य में होता है। यह द्विदल पद्म है तथा इसका वर्ण श्वेत है। इसका तप लोक है। पद्म दलों के अक्षर हं क्षं है। इसका तत्त्व महत्तत्त्व है। इसका तत्त्व बीज ओम् है। उसका वाहन नाद है। इसका देव लिंग है तथा उसकी शक्ति हाकिनी है। इसका यन्त्र लिंगाकार है।

(७) सहस्रारचक्र (शून्यचक्र) (ब्रेन)

इसका स्थान मस्तक है। यह सहस्त्रदल पद्म है। इसका सत्यलोक है। पद्म दलों के अक्षर अं से क्षं तक पचास है। यह तत्त्वातीत है तथा तत्त्व बीज विसर्ग है। बीज का वाहन बिन्दु है। इस चक्र का देव परब्रह्म है तथा इसकी शक्ति महाशक्ति है। इसका यन्त्र पूर्णचन्द्र निराकार है। इसका प्रभाव सर्वज्ञता, अमरता तथा मुक्ति है।

उक्त सहस्रार चक्र के नीचे सोमचक्र स्थित है। यह षोडश दल पद्मरूप माना गया है। इसमें योगियों की निरालम्बपुरी तथा तुरियातीत अवस्था में रहने का स्थान होता है। इसके अन्तस्तल में द्वादशदल अथवा षट्दल मनश्चक्र अवस्थित है। इसी में संकल्प-विचार उत्पन्न होते हैं। यह मनश्चक्र मूर्धास्थान के उर्ध्व में तथा त्रिकूट चक्र, श्रीहाट चक्र, गोल्लाट चक्र, औट पीठ चक्र तथा भ्रमर गुम्फा चक्र के समीप है। इस चक्र की नाडी मनोवहा है तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियसम्बद्ध रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द वाहिनी पञ्चनाडियां भी मनश्चक्र से संयुक्त हैं।

सर्व प्रथम, मन में वृत्ति उत्पन्न होती है। पश्चात् वृत्ति सदृश विचार उत्पन्न होते हैं। उक्त विचारों को प्रव्यक्त करने का मूलस्थान परावाणी मानी जाती है। जब ये विचार चक्षुर्वेद्य सूक्ष्म शब्दों में परिणत होते हैं, तब उन्हें पश्यन्ती वाणी कहा जाता है। उक्त सूक्ष्मशब्द जब कण्ठगत अर्द्ध वाणी के रूप में उद्बुद्ध होते हैं, तब वे मध्यमा वाणी रूप होते हैं तथा उनके स्फुटरूप में मुखरित होने की स्थिति में यह वैखरी कहलाती है।

सप्तकोश

इस विषय में विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि परा तथा पश्यन्ती का मूल स्थान मूलाधार चक्र न होकर सहस्रार चक्र के समीप है। मनश्चक्र के नीचे आज्ञा चक्र है और इसके समीप कारण शरीररूप सप्तकोश हैं। ये हैं १ इन्दु, २. बोधिनी, ३. नाद, ४. अर्धचन्द्रिका, ५. महानाद, ६. सोमसूर्याग्निरूपिणी कला तथा ७. उन्मनी। इसी उन्मनी कोश में पहुंचने पर जीवका पुनरावर्तन नहीं होता। इस कोश में प्रविष्ट जीवात्मा को पराधीन गर्भवास न होकर स्वेच्छापूर्वक देह-धारण करने की क्षमता होती है तथा उसे आत्मस्वरूप की यथार्थ स्मृति होती है।

योग नाडियां

कुण्डलिनी लय योग में योग नाडियों को अत्यन्त महत्त्व प्राप्त है। मानव शरीर में स्थित बहत्तर हजार नाडियों में तीन नाडियां प्रमुखतम मानी जाती है। वे हैं १. इडा नाडी, २. पिंगला नाडी, तथा ३ सुषुम्ना नाडी। इडा नाडी वाम नासिका से चलने वाली चन्द्र नाडी है तथा पिंगला नाडी दक्षिण नासिका से चलने वाली सूर्य नाडी है। इडा नाडी श्वेत वर्ण की है तथा पिंगला नाडी रक्त वर्ण की है। इन दोनों नाडियों के मध्य सुषुम्ना नाडी विद्यमान होती है। इडा नडी तथा पिंगला नाडी सुषुम्ना नाडी को लपेटती हुई मेरुदण्ड के सहारे उपर उठती है। उक्त दोनों नाडियों की वक्र-वर्तुल गति से मूलाधार चक्र स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र तथा विशुद्धि चक्र बनते हैं। अमृत विग्रहा इडा नाडी तथा रौद्रात्मिका पिंगला नाड़ी ये दोनों काल के वास्तविक स्वरूप को परिज्ञात कराती है। उक्त दोनों नाडियां जब समान गति से प्रवहमान होती है, तब उनका सुषुम्ना नाडी में लय हो जाता है। इसी अवस्था में कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट होती है तथा षट्-चक्रों को पार करती हुई सहस्रार चक्र में प्रविष्ट होकर शान्त होती है। इसी अवस्था को समाधि कहते हैं। लय योगी महालय समाधि की स्थिति में पहुंचने पर कालान्तक अथवा कालजयी हो जाते हैं। उनके पाञ्चभौतिक शरीर तथा अन्नमय एवं प्राणमय कोषों के समस्तकार्य स्तब्ध होने पर भी वे चिर समय तक जीवित रहते हैं।

मनुष्य के मेरुदण्ड (स्पाइनल कार्ड) के वाम पार्श्व में कुहू नाडी होती है। वाम चक्षु से वाम पाद के अंगुष्ठ तक गान्धारी नाडी तथा दक्षिण चक्षु से दक्षिण पाद के अंगुष्ठ तक हस्तिजिह्वा नाडी होती है। सुषुम्ना के दक्षिण में सरस्वती नाडी होती है, जो जिह्वा के समीप सुषुम्ना से मिलती है। दक्षिण चक्षु से उदर तक पूषा नाडी होती है। पूषा तथा सरस्वती के मध्य पयस्विनी नाडी होती है। गांधारी तथा सरस्वती के मध्य शंखिनी नाडी होती है। दक्षिण हस्त के अंगुष्ठ से वाम पाद तक यशस्विनी नाडी होती है। कुहू और यशस्विनी के मध्य वारुणी नाडी होती है। जो मनुष्य के निम्नांग को व्याप्त करती है। कुहू तथा हस्ति-जिह्वा के मध्य विश्वोदरा नाडी होती है। यह शरीर के निम्नभाग को व्याप्त करती है। सुषुम्ना के मध्य में वज्रानाडी होती है । उसके अन्दर

चित्रा नाडी होती है तथा उसके भी अन्दर ब्रह्म नाडी होती है। इसी ब्रह्म नाडी में प्रविष्ट होकर कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों को पार करती हुई सहस्रार चक्र में प्रविष्ट होती है।

पाश्चात्य विद्वानों के कुण्डलिनी शक्ति के विषय में अभिमत

उपनिषदों में कुण्डलिनी शक्ति को नाचिकेत अग्नि कहा गया है। इस नाचिकेत अग्नि को सिद्ध करने वाले लययोगी का शरीर योगाग्निमय हो जाता है तथा यह योगी जन्म-व्याधि-जरा-मृत्यु से पारंगत हो जाता है। इस विषय में तथा विशेषतया कुण्डिलिनी शक्ति के विषय में डॉ० कीलनर, जॉन वुडरफ़, डॉ० हडसन, मैडम ब्लैवेट्स्की, आर्थर एवलन, आयलोहिन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने एतद्विषयक ग्रन्थों में स्वतः के नितान्त मननीय विचारों को अभिव्यक्त किया है।

चैनिक योगदीपिका में कुण्डलिनी शक्ति को स्पिरिट फायर कहा गया है--

"Only after the completed work of a hundred days will the light be real, there will it become spirit fire, the heart is the fire, the fire is the Elixir." (I' Lohin)

कतिपय पाश्चात्य विद्वान् कुण्डलिनी शक्ति को सर्प समान वलययुक्त अग्नि (सर्पन्ट फायर) भी कहते हैं। मैडम ब्लैवेट्स्की इसको वैश्विक विद्युत् शक्ति (कॉस्मिक् इलेक्ट्रिसिटी) कहती हैं—

"Kundalini is called the serpentine or annular power, on account of its spiral-like working or progress in the body of the ascetic, developing the power in himself. It is an electric firy occult or fohatic power, the great pristine force, which underlies all organic and inorganic matter." (The Voice of the Silence)

कुण्डलिनी शक्ति की तीव्रतम गति के विषय में मादाम ब्लैवेट्स्की लिखती हैं—

" Light travels at the rate of 185000 miles a second, Kundalini at 345000 miles a second."

सद्गुरु के तत्त्वावधान में उचित एवं विहित मार्ग से ही लययोगी को महालय की साधना करनी श्रेयस्कर होती हैं। इसमें प्रमाद नहीं होना चाहिए। इस विषय में मिस्टर हडसन ने अपने विचारों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"Note that the actual arousing of the tremendous force of Kundalini may only be safely attempted under the expert guidance of a master of occult science. Otherwise Kundalini may act downwards and intensify both the desire -nature and the activity of the sexual organs." (Science of Seership.)

कुण्डलिनी शक्ति के स्वरूप के विषय में सर जॉन् वुडरफ् इस प्रकार लिखते हैं—

"Shortly stated Energy (shakti) polerises itself two forms, namely static or potential (Kundalini) dynamic (the working forces of the body as prana)" (Shakti and Shakta–Sir John Woodraffe)

कुण्डलिनी शक्ति के विषय में आर्थर अॅवलन् इस प्रकार लिखते हैं-

"It is the individual bodily representative of the great Cosmic power (Shakti), which creates and sustains the universe." (The Serpent Power—Arthur Avalon)

मनुष्य के पिंड शरीर (Etheric body) में स्थित शक्ति केन्द्रों (षट् चक्रों) के विषय में हड्सन स्वकीय अभिमत को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं—

"They are the force-centres in the human body and are so called, 'because' to clairvoyant sight, they have the appearance of spinning vortices. They are the six plexuses." (Hodson)

मूलाधार में स्थित साढ़ेतीन वलयों से युक्त कुण्डलिनी का वर्णन श्री हडसन इस प्रकार करते हैं-

"In the heart of this chakram lies the serpent fire (Kundalini) and there it sleeps thronghout the ages until the time is ripe for it to be roused."

(Hodson)

कुण्डलिनी के जागृत होकर, सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वाभिमुख गति शालिनी होती हुई तथा षट्चक्रों को (इडा-पिंगला-ग्रन्थियों को) प्रज्वलित एवं प्रेरित करती हुई सहस्रारचक्र में पहुंचने की उसकी प्रक्रिया का वर्णन हड्सन इस प्रकार करते हैं—

"As it passes up the spine, vivifies in turn each chakram, thereby causiug the etheric centres to be opened and channels to be made from the superphysical to the physical worlds, so providing conductors for superphysical vibrations, when it is thus arosued, all the psysic powers are fully unfolded and become available for use, while the man is awake in the physical body." (Hodson. P. 213)

●

हठयोग

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।। (हठयोग प्रदीपिका)

तात्पर्य यह है कि अष्टाङ्ग राजयोग के साधन एवं पूर्वांग के रूप में हठयोग का प्रतिपादन हुआ है। हठयोग की वास्तविक परिणति राजयोग में होती है। हठयोग के पूर्वांग, षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार तथा प्राणायाम से अन्नमय कोष एवं पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर के स्वास्थ्य, दृढ़ता तथा स्थैर्य का लाभ होता है। इसी प्रकार शारीरिक समस्त नाड़ियों का भी, उक्त पूर्वांगों से परिशोधन होता है। तात्पर्य, हठयोग का प्राथमिक प्रमुख उद्देश्य स्थूल शरीर की तथा तदन्तर्गत नाड़ी संस्थान एवं स्नायुमण्डल की परिशुद्धि तथा दृढ़ता है।

हठयोग के सिद्धान्त के अनुसार पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर तथा लिंगमय सूक्ष्म शरीर एक ही भावसूत्र में गुम्फित होते हैं। इस कारण से उक्त दोनों शरीर पारस्परिक रूप में पूर्णतया प्रभावित भी होते रहते हैं। अतः पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष (A body of organic Compound) को षट् कर्म-आसन-मुद्रा आदि हठयोग के पूर्वांगों से नियन्त्रित, सुदृढ़ एवं स्वाधीन कर उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर को नियन्त्रित तथा स्वाधीन कर महाबोध समाधि को सिद्ध करना हठयोग का चरम उद्देश्य माना जा सकता है। शब्दान्तर में यह कहा जा सकता है कि प्राण के निरोध के द्वारा मन का निरोध हठयोग का उद्देश्य है तथा मन के (मनोवृत्तियों के) निरोध से प्राण का संयम राजयोग का ध्येय है।

हठयोग के आचार्य

हठयोग के आदिवक्ता तथा आचार्य भगवान् श्री शिव माने जाते हैं। इसी परम्परा में हठयोग के आचार्य मार्कण्डेय मुनि भी आते हैं। इनके पश्चाद्वर्ति आचार्यों में महान् हठयोगी मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पटी, जलन्धर, कनेडी, चतुरंगी, विचारनाथ आदि प्रमुख माने जाते हैं।

हठयोग के प्रमाण ग्रन्थ

हठयोग की इस विशेष विधा के कतिपय प्रमुख उपजीव्य एवं प्रमाण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं। पातञ्जलयोगदर्शन, योगशिखोपनिषद्, गोरक्ष संहिता, गोरक्षशतक, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, सिद्ध सिद्धान्त संग्रह, गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह, अमनस्क, योगबोज, हठयोग प्रदीपिका, हठतत्त्व कौमुदी, घेरण्ड संहिता, निरंजन पुराण आदि।

हठ शब्द की व्याख्या

हकारेण तु सूर्यस्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥ (योगशिखोपनिषद्)

हकार का अर्थ सूर्य है तथा ठकार का अर्थ चन्द्र है। सूर्य एवं चन्द्र के ऐक्य को हठ कहते हैं। यह तो शब्दार्थ है। तात्पर्य यह है कि प्राण संयम के द्वारा सूर्य स्वरूप पिंगला नाड़ो में प्रवहित दक्षिण स्वर तथा चन्द्र स्वरूप इडानाड़ी में प्रवहित वाम स्वर की एकता (समता) 'हठ' कहलाती है। सूर्य स्वर एवं चन्द्र स्वर की साम्यावस्था में अर्थात् नासाभ्यन्तर चारिणी प्राण-अपान की साम्यावस्था में जिस साधना के द्वारा सुषुम्ना में प्राण सञ्चार होता है, उस साधना को हठयोग कहते हैं।

हठयोग के अंग

हठयोग सप्तांग योग है। इसके सात अंग होते हैं।

१. षट्कर्म

इसमें छह कर्म सम्मिलित हैं। (क) धौति, (ख) बस्ति, (ग) नेति, (घ) नौलि, (ङ) त्राटक तथा (च) कपाल भाति।

धौति : मुख के द्वारा स्वच्छ वस्त्र को निगलकर पेट को स्वच्छ करने के कार्य को धौति कहते हैं। सम्प्रति यह कार्य स्टमक्ट्यूब से भी भली प्रकार हो सकता है।

बस्ति : गुद में वेणुखण्ड के द्वारा जल प्रवेश कराकर बृहद् अन्त्रों को शुद्ध करने के कार्य को बस्ति कहते हैं। सम्प्रति यह कार्य एनिमा से सम्यक्तया हो सकता है।

नेति : नासिका से जल को खींचकर तथा मुख से निकालकर नासिका के उभय रन्ध्रों के शोधन कार्य को नेति कहते हैं।

नौलि : खड़े होकर घुटनों पर हथेलियों को रखकर पेट को दाहिने-बाएँ घुमाना नौलि कहलाता है। इससे कोष्ठ शुद्धि होती है।

त्राटक : सूक्ष्म लक्ष्य को एकाग्र दृष्टि से अश्रुपातपर्यन्त सतत देखने के कार्य को त्राटक कहते हैं। इससे दृष्टि की शक्ति तीव्र एवं लक्ष्यवेधी होती है।

कपालभाति : शीघ्रतापूर्वक श्वास-प्रश्वास के पूरण-रेचन करने की क्रिया को कपालभाति कहते हैं। इस क्रिया से श्वसन के अंग एवं फुफ्फुस शुद्ध होते हैं।

इन षट्कर्मों का उद्देश्य, हठयोगी साधक के शरीर की आभ्यन्तर शुद्धि होता है। इन षट्कर्मों को तज्ञ गुरु के निर्देशन में ही सम्पादित करना चाहिए। अन्यथा इनसे साधक को हानि पहुँचने की सम्भावना होती है।

२. आसन

जिस शारीरिक स्थिति के अभ्यास से शरीर सुदृढ़ एवं मन स्थिर होता है, उस शारीरिक स्थिति को आसन कहते हैं। उद्देश्य की भिन्नता से आसन भी भिन्न-भिन्न उपयुक्त होते हैं। सुना जाता है कि इस संसार में जितनी जीवयोनियां हैं, उतने ही प्रकार के आसन भी होते हैं। भगवान् शंकरजी ने चौरासी लक्ष योनियों के लिए चौरासी लक्ष आसनों का निरूपण किया हुआ सुना जाता है। उक्त चौरासी लक्ष आसनों में चौरासी आसन मनुष्यों के लिए मुख्य रूप से विहित हैं। इन चौरासी आसनों में भी इस मर्त्य लोक में केवल तैंतीस आसन मंगल जनक हैं। ये हैं—(१) सिद्धासन, (२) स्वस्तिकासन, (३) पद्मासन, (४) बद्धपद्मासन, (५) भद्रासन, (६) मुक्तासन, (७) वज्रासन (८) सिंहासन, (९) गोमुखासन, (१०) वीरासन, (११) धनुरासन, (१२) मृतासन, (१३) गुप्तासन, (१४) मत्स्यासन, (१५) मत्स्येन्द्रासन, (१६) गोरक्षासन, (१७) पश्चिमत्तानासन, (१८) उत्कटासन, (१९) संकटासन, (२०) मयूरासन, (२१) कुक्कुटासन, (२२) कूर्मासन, (२३) उत्तान कूर्मासन, (२४) उत्तान मण्डूकासन, (२५) वृक्षासन, (२६) मण्डूकासन, (२७) गरुडासन, (२८) वृषासन, (२९) शलभासन, (३०) मकरासन, (३१) उष्ट्रासन, (३२) भुजङ्गासन तथा (३३) योगासन।

इनमें भी सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन तथा भद्रासन ये चार आसन श्रेष्ठ माने गये हैं। इन चारों में भी सिद्धासन सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि अन्य आसनों की अपेक्षया सिद्धासन में सिद्धि-प्रापण की विशेष क्षमता होती है।

आसनसिद्धि से शरीर की सुदृढ़ता, स्थिरता, निरोगता, लघुता आदि सम्पन्न होती हैं। आसन के दीर्घकालिक अभ्यास से रजोगुणजनित शारीरिक एवं मानसिक अस्थिरता एवं चञ्चलता दूर हो जाती है। तात्पर्य, आसन के सिद्ध होने की स्थिति में रजोगुण एवं तमोगुण जन्य शारीरिक व्याधियों तथा मानसिक आधियों की पूर्णतया निवृत्ति होती है तथा प्राणायाम की प्रक्रिया भी इससे सहज साध्य हो जाती है।

३. मुद्रा

जिन क्रियाओं से प्रत्याहार, प्राणायाम तथा ध्यान की सिद्धि में सहायता प्राप्त होती है, उन कुशल क्रियाओं का नाम मुद्रा है। उक्त मुद्राओं में से प्रमुख मुद्राएँ निम्नलिखित हैं —

(१) महामुद्रा, (२) नभोमुद्रा, (३) खेचरी मुद्रा, (४) विपरीत करणी, (५) महावेधा, (६) योनिमुद्रा, (७) वज्रोली, (८) शक्ति-चालनी, (९) तड़ागी, (१०) माण्डुकी, (११) शाम्भवी, (१२) पंच-धारणा, (१३) अश्विनी, (१४) पाशिनी, (१५) काकी, (१६) मतंगी, (१७) भुजङ्गिनी, (१८) उड्डीयान, (१९) जालन्धर, (२०) मूलबन्ध तथा (२१) महाबन्ध।

मुद्राओं की साधना का उद्देश्य यह है कि उसके द्वारा मूलाधार चक्र के अन्तर्गत कन्द से आलिप्त प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर सुषुम्ना को चेतन करना है। इससे उक्त सुषुम्ना में हठयोगी साधक का प्राण सहजतया प्रविष्ट हो जाता है तथा वह मृत्यु भय से विहीन हो जाता है। इसके अतिरिक्त उक्त मुद्राओं की सिद्धि से अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व ये अष्ट सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं। स्थूल रूप में मुद्रा का फल शरीर की स्थिरता माना जा सकता है।

४. प्रत्याहार

हठयोगी साधक प्रत्याहार की साधना की अवस्था में सतत अभ्यास के द्वारा पञ्च ज्ञानेन्द्रियों को अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय (कर्ण कुहर के अन्तर्गत), त्वगिन्द्रिय (शरीर की सम्पूर्ण त्वचा), चक्षुरिन्द्रिय (चक्षुगोलकाभ्यन्तर), रसनेन्द्रिय (जिह्वा के विशिष्ट स्थानों में) तथा घ्राणेन्द्रिय (उभय नासिकामूल में) को क्रमशः उनके विषयों से अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से पूर्णतया खींच लेता है। तात्पर्य प्रत्याहार की साधना के समय साधक के कानों को मधुर अथवा परुष शब्द सुनाई नहीं देते। त्वचा को कोमल, कठोर, उष्ण तथा शीत स्पर्श का अनुभव नहीं होता। चक्षु को रूप, रंग, आकार आयाम आदि दिखाई नहीं देते। जिह्वा को मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु तथा कषाय इन षड्रसों का आस्वादन नहीं होता तथा नाक को सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि का बोध भी नहीं होता। इस प्रकार साधक के जितेन्द्रिय होने पर उसके सभी इन्द्रिय मनोनुकूल एवं मन के रूप में अवस्थित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में बाह्य इन्द्रिय-विषयों की प्रतीति सर्वथा निरुद्ध होकर मनोविषय की ही प्रतीति होती है।

५. प्राणायाम

हठयोग की साधना में प्राणायाम को अत्यन्त महत्त्व प्राप्त है। उक्त प्राणायाम के सामान्य तीन प्रकार सर्व सम्मत हैं। (१) पूरक, (२) कुम्भक तथा (३) रेचक। वाम नासिका से श्वास को अन्दर खींचना पूरक प्राणायाम, अन्दर खींचे हुए श्वास को फुफ्फुसों में स्थिर रखना कुम्भक प्राणायाम तथा दक्षिण नासिका से कुम्भित श्वास को बाहर निकालना रेचक प्राणायाम कहलाता है। यह प्राणायाम का सामान्य व्यावहारिक स्वरूप है। कुम्भक प्राणायाम सहित तथा केवल भेद से दो प्रकार का होता है। केवल कुम्भक प्राणायाम नितान्त कठिनसाध्य होता है।

सर्वप्रथम, प्राणायाम को सिद्ध करने के लिए अर्थात् प्राण की सुषुम्ना-नाड़ी में प्रविष्टि के लिए नितान्त अपेक्षित सम्पूर्ण नाड़ी संस्थान की शुद्धि आवश्यक होती है। जब तक नाड़ी संस्थान में, विशेषतया इडा एवं पिंगला में मल संचित रहेगा, तब तक सूर्य स्वर तथा चन्द्र स्वर विशुद्ध न होकर उनमें गति, परिमाण, विस्तार, संकोच आदि भी न हो सकेगा। अतः

नाडी शोधन के लिए नित्य, प्रतिदिन प्रातः सायं हठयोगी साधक को सोलह बार पूरक-कुम्भक-रेचकात्मक प्राणायामों को, वस्तुतः श्वासायामों को करना आवश्यक होता है। उक्त श्वासायामों के द्वारा नाड़ी संस्थान के शोधन होने के पश्चात् ही साधक में मनोनिवृत्ति अथवा उन्मनीभाव का प्रादुर्भाव होता है। दक्षिण नासिकागत सूर्य-स्वर तथा वामनासिकागत चन्द्र-स्वर, जो सामान्यतया द्वादश अंगुल गति-परिमाण तक विस्तृत होते हैं, शनैः शनैः संकुचित होकर प्राणायाम की क्रिया से उक्त दोनों स्वर नासिकापुटों में ही समानरूप से प्रवहित होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थात् सूर्यस्वर एवं चन्द्रस्वर की साम्यावस्था में सुषुम्ना नाड़ी चेतन, प्रदीप्त एवं उद्बुद्ध होती है तथा उसमें प्राण का प्रवेश एवं संचार होता है। यही हठयोग के प्राणायाम का वास्तविक स्वरूप है।

इस प्राणायाम का अभ्यास करते समय योग्य साधक को निम्नलिखित चार अवस्थाओं का अनुभव होता है। (१) प्रारम्भावस्था, (२) घट-अवस्था, (३) परिच्छाया-अवस्था तथा (४) निष्पत्ति अवस्था।

६. ज्योतिर्ध्यान

प्राणायाम की सम्यक् साधना से चेतन सुषुम्ना में प्राण शक्ति का सञ्चार होने के पश्चात् कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है तथा षट्चक्रों को पार करती हुई मस्तक स्थित त्रिकूट चक्र, श्री हाट चक्र, गोल्लाट चक्र, औट पीठ चक्र तथा भ्रमर गुम्फा चक्र में प्रविष्ट होती हुई अन्त में सहस्रार चक्र में स्थिर हो जाती है। हठयोगी साधक, ध्यान की अवस्था में उक्त कुण्डलिनी के प्रकाशमय, देदीप्यमान ज्योतिस्वरूप का ध्यान करता है तथा एतत्फलस्वरूप उसको आत्मसाक्षात्कार होता है।

७. समाधि

हठयोग में इसे जड़समाधि कहते हैं। इसमें नितान्त कष्ट साध्य केवल कुम्भक प्राणायाम से प्राण को सुषुम्ना में प्रविष्ट करा कर प्राणगति को पूर्णतया अवरुद्ध किया जाता है। इससे चित्त पूर्णरूप से अवलम्ब विहोन तथा निर्विषयक अर्थात् निर्लिप्त होता है। तात्पर्य, जड़समाधि में प्राणनिरोध से मनोनिरोध होकर मन सर्वथा विषय विषयक लेपविहीन हो जाता है।

हठयोग की विषमताएँ

मेरे प्राक् प्रतिपादन के अनुसार हठयोग राजयोग का पूरक पूर्वांग है। यह वास्तविक दृष्टि से राजयोग का साधन अथवा प्रथम सोपान है। हठयोग को साधन एवं साध्य उभयविध मानने की स्थिति में यह विषमता होती है कि इसके साधनांग पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर तथा अन्नमय एवं प्राणमय कोषों से सम्बद्ध होने के कारण अविद्या जनित अज्ञान अर्थात् जगद्विषयक सत्यत्व भावना से उत्पन्न अहंकार की पुष्टि एवं वृद्धि होती है, जो आध्यात्मिक मुक्ति की प्राप्ति में निःसन्देह प्रतिबन्धक होती है। इसके विपरीत राजयोग में पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर को माया जनित आवरण समझकर उसकी उपेक्षा की जाती है तथा मनोमय कोष से ही साधना का प्रारम्भ होता है। इससे तत्त्वज्ञान एवं मुक्ति में प्रतिबन्धक अहंकार का पोषण न होकर नाश ही होता है।

हठयोग की दूसरी विषमता यह है कि इसकी अधिकांश साधनाएँ अन्नमय-प्राणमय कोषीय पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर से सम्बद्ध होने के कारण इनके प्रभाव उक्त स्थूल शरीर पर मृत्यु पर्यन्त ही रहते हैं। हठयोग की साधना का अन्तिम परिणाम निरालम्बता भी मृत्यु पर्यन्त ही रहती है। मृत्यु के पश्चात् जीवात्माको हठयोग की साधना का कोई भी लाभ प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत राजयोग की मानसिक साधना का प्रभाव अन्तःकरण पर स्थायी रूप में होता है। मृत्यु के अनन्तर भी जन्मान्तर में अपूर्णसाधना का उक्त प्रभाव जीवात्मा में बीजरूप में विकसित होकर पूर्णता को प्राप्त करता है तथा एतत्फलस्वरूप जीवात्मा कैवल्यमुक्ति को प्राप्त करता है।

हठयोग का सम्बन्ध पाँचभौतिक स्थूल शरीर तथा प्राणवायु के निग्रह से होता है। राजयोग का सम्बन्ध मन से होता है। हठयोग राजयोग का पूरक पूर्वांग है तथा राजयोग हठयोग का समर्पक उत्तरांग है। हठयोग की साधना जहाँ सम्पन्न होती है, वहाँ राजयोग की साधना प्रारम्भ होती है। हठयोग की साधना शरीर एवं प्राण से शुरू होती है, तो राजयोग की साधना मनस्तत्त्व से प्रारम्भ होती है।

हठयोगी साधक प्राण एवम् अपान वायु को संयुक्त रूप में द्वादश चक्रों में प्रविष्ट कराकर (सुषुम्ना के माध्यम से) सिद्धियों को प्राप्त करता है। राजयोगी साधक संयम से ही उक्त सिद्धियाँ प्राप्त करता है। ज्ञानयोगी-सिद्ध सत्संकल्प से सिद्धियों को प्राप्त करता है। भक्त आत्मसमर्पण के द्वारा भगवत्कृपा को प्राप्त कर समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।

●

राजयोग

कर्मयोग की अन्य विधाओं की तुलना में राजयोग का, मन एवं मानसिक शक्ति से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। राजयोग की साधना पद्धति अर्थात् अष्टांग साधन पद्धति मनोवृत्ति से इतनी अधिक निगडित है कि इस साधना पद्धति को क्रियात्मक मनोविज्ञान कहना अवास्तविक न होगा। राजयोग का प्रमुख उद्देश्य समस्त मानसिक व्यथाओं एवं बाधाओं को पूर्णतया निरस्त कर, मनःशक्ति को जागृत करते हुए मन को संयमित कर असम्प्रज्ञात समाधि के लिए नितान्त आवश्यक भूमिका स्वरूप ध्येय के प्रति ध्यान के द्वारा मन की अनन्य एकतानता को निर्माण करना है।

समस्त भौतिक शक्तियों से श्रेष्ठ धारणा शक्ति तथा इच्छा शक्ति को धारणा एवं ध्यान साधना से जागृत कर ध्येय के प्रति उन्मुख करना राजयोग की अनन्यसाधारण विशेषता है। संसार की समस्त भौतिक, अतिभौतिक तथा पराभौतिक शक्तियों पर नियन्त्रण रखनेवाली मनःशक्ति तथा आत्मशक्ति की प्राप्ति इस योगविधा की साधना से ही होती है; अतः इस योगविधा का अभिधान 'राजयोग' अन्वर्थक प्रतीत होता है। राजयोग इस दृष्टि से पूर्ण मनोवैज्ञानिक है।

राजयोग के इस अनितरसाधारण महत्त्व के कारण ग्रीस देश के पिथागोरस, प्लेटो आदि प्राचीन विद्वानों ने इसकी प्रशंसा की है। इसी प्रकार प्राचीन योरोपीय, इजिप्शियन, यहूदी मनीषियों ने एवं स्पिनोजा, काँट, शोपेनहार एमर्सन आदि दार्शनिकों ने भी राजयोग की भूरिप्रशस्ति की है तथा इस विषय में अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने अपने ग्रन्थों में लिखा है कि राजयोग की साधना का प्रमुख उद्देश्य प्रकृति तथा आत्मा के गूढ़ रहस्यों को प्रकट करना है तथा व्यक्ति के अन्तर्गत मानसिक शक्ति को जागृत एवं विकसित करना है।

राजयोग के सिद्धान्त के अनुसार जब राजयोगी साधक स्वतः की वैषयिक बाह्य मानसिक वृत्तियों को पूर्णतया निग्रहीत करता है, अपनी

मनःशक्ति को नियमित करता है, मन को अन्तर्मुख करता है, मानसिक सभी प्रतिबन्धों को दूर करता है तथा आत्मतत्त्व की ओर मनोवृत्तियों को एकाग्र एवं केन्द्रीभूत करता है, तभी उसको परमात्मतत्त्व के अंश जीवात्म-तत्त्व के सत्य स्वरूप का तथा जीवात्मा एवं शुद्ध-बुद्ध, नित्य-अव्यय, सत्-चिद्-आनन्द परब्रह्म परमात्मा के नितान्त अभेद का पूर्ण बोध होता है। इस समय राजयोगी सिद्ध को परब्रह्म की दिव्य सनातन अव्यय सत्ता का यथार्थ प्रतिभान होता है तथा वह परब्रह्म-परमात्मस्वरूप जीवात्मा की व्याप्ति को सार्वभौम एवं सार्वकालिक समझने लगता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः॥

इस भगवद्गीता के भगवद्वचन के अनुसार राजयोगी समदर्शी सिद्ध सभी प्राणियों में स्वतः की आत्मा को तथा स्वतः की आत्मा में समस्त प्राणियों को देखता है। सम्पूर्ण संसार के नाम-रूपों के मूल में परमात्मतत्त्व की सत्ता को देखनेवाला समदृष्टि सिद्धयोगी, अविद्या जनित अज्ञान-अहंकार से मुक्त होकर परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है तथा मुक्त हो जाता है।

सांख्य एवं योग का पारस्परिक सम्बन्ध

इस सन्दर्भ में सांख्य एवं योग के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में विचारों को अभिव्यक्त करना प्रसंग से किञ्चित् दूर होते हुए भी सर्वथा अप्रस्तुत प्रतीत नहीं होता।

'तत्त्वानि संख्यायन्ते, विज्ञाय परिगण्यन्ते येन तत् सांख्य दर्शनम्।' इस सांख्य दर्शन की व्युत्पत्ति के अनुसार एक मूल प्रकृति, सात प्रकृति विकृतियाँ, सोलह विकृतियाँ तथा एक पुरुष, इस प्रकार पच्चीस तत्त्वों को गिनानेवाला सांख्य-दर्शन (Numerological System of Philosophy) है। योगदर्शन भी कुछ सीमा तक सैद्धान्तिक दृष्टि से उक्त पच्चीस तत्त्वों की सत्ता को मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से ध्यान समाधि को विशेष महत्त्व प्रदान करता है। इसीलिए योग दर्शन को सांख्य दर्शन का उत्तरांग कहा जाता है। उक्त दोनों दर्शनों में अन्तर इतना ही है कि सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी होकर ईश्वर के स्थान पर पच्चीसवें तत्त्व पुरुष को ही

मानता है। योगदर्शन (Meditalog cal System of Philoophy) छब्बीसवें तत्व के रूप में क्लेशकर्मविपाकाशय से असम्पृक्त पुरुष विशेष को ईश्वर मानता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से सांख्य एवं योग परिणामवादी दर्शन हैं। इन दोनों दर्शनों के अनुसार जड़ विश्व उत्पन्न तथा नष्ट न होकर दूसरी अवस्था में परिणमित-परिवर्तित होता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार तात्त्विक विवेक अर्थात् मूल प्रकृति की साम्यावस्था का प्रमात्मक ज्ञान मुक्ति का साधन होता है। योगदर्शन के अनुसार भी तात्त्विक विवेक अर्थात् परमात्मतत्त्व विषयक प्रमात्मक ज्ञान मुक्ति का कारण होता है। इतना होते हुए भी सांख्य की विवेक ख्याति तथा योग की विवेक ख्याति सर्वथा समान नहीं है।

सांख्य दर्शन तथा योग दर्शन के मूलभूत कतिपय सिद्धान्तों का मनन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि योग दर्शन सांख्य दर्शन का परिशिष्ट अथवा पूरक है। उक्त दोनों दर्शनों में इतना सैद्धान्तिक सामञ्जस्य है कि सांख्य दर्शन को पूर्व सांख्य तथा योग दर्शन को उत्तर सांख्य अथवा सांख्य-दर्शन को पूर्वयोग एवं योगदर्शन को उत्तरयोग कहा जा सकता है। इसीलिए भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ॥

> श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं व्यास कोटिभिः।
> ममेति मूलं दुःखस्य न ममेति च निर्वृतिः ॥
> निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद् योग संगतिः।
> योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते ॥

इस श्रुति के अनुसार कृष्ण द्वैपायन भगवान् वेदव्यासजी ने महाभारत में, अष्टादश महापुराणों में तथा अष्टादश उपपुराणों में कोटि-कोटि श्लोकों के द्वारा जिस महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन किया है, उसको मैं आधे श्लोक में निरूपित करता हूँ। वह तथ्य यह है कि मानव जीवन में दुःखों का मूल कारण विषयासक्ति मूलक ममत्व भावना होती है तथा सुख का कारण विषयों से अनासक्ति अर्थात् निर्ममत्व की भावना होती है। निर्ममता से वैराग्य प्राप्त होता है। वैराग्य से योग की प्राप्ति होती है। योग से तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति तथा तत्त्वज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। तात्पर्य, कैवल्यमुक्ति के लिए तत्त्वज्ञान के माध्यम के द्वारा राजयोग की साधना

का अनन्यसाधारण महत्त्व प्रतिपादित है। बहिर्मुख अर्थात् विषय वासनाओं से आलिप्त चंचल मन मानव के लिए बन्धन कारक होता है। किन्तु विषय वासनाओं से रहित, अन्तर्मुख, नियन्त्रित, स्थिर सन्तत ध्यान-प्रवण मन ही मुक्ति का साधन होता है और यही सिद्धान्त राजयोग में प्रमुखतया प्रतिपादित है।

चित्त की वृत्तियाँ

पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार चित्त की प्रमुख पाँच वृत्तियाँ होती हैं। ये यदि व्यावहारिक हों, तो क्लिष्ट अर्थात् क्लेश जनक होती हैं। पारमार्थिक यदि हों, तो अक्लिष्ट अर्थात् अक्लेशजनक होती हैं। ये पाँच वृत्तियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा तथा (५) स्मृति।

प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये तीन प्रमाण।

विपर्यय—मिथ्या ज्ञान, भ्रम (रज्जु में सर्पभ्रम)।

विकल्प—मन की कोरी कल्पना।

निद्रा—व्यावहारिक शयनरूपा (क्लिष्टा) तथा योग निद्रा (अक्लिष्टा)।

स्मृति—सांसारिक अतीत की स्मृति (क्लिष्टा) तथा भगवद् विषयक स्मृति (अक्लिष्टा)।

चित्त की अवस्थाएँ

चित्त की निम्नलिखित पाँच अवस्थाएँ प्रतिपादित हैं।

१. मूढ़-अवस्था

मानव की यह पशु-अवस्था होती है। इसमें तमोगुण का प्राधान्य होता है तथा अविवेक, पशुप्रवृत्ति एवं लोलुपता भी होती है।

२. क्षिप्त-अवस्था

मानव की यह स्वाभाविक मानव-अवस्था होती है। इसमें राजस एवं तामस गुणों का प्राधान्य होता है तथा इसमें स्वार्थ भावना एवं विषयासक्ति भी होती है।

३. विक्षिप्तावस्था

मानव को यह जिज्ञासु-अवस्था होती है। इसमें रजोगुण का प्राधान्य होता है। इसमें विषयों में आसक्ति, परमार्थ में भी विश्वास, जिज्ञासा तथा बुद्धि की चंचलता भी होती है।

४. एकाग्र-अवस्था

यह मानव की साधक अवस्था होती है। इसमें सत्त्वगुण का प्राधान्य होता है तथा इसमें मन की एकाग्रता एवं साध्य विषयक निश्चला वृत्ति होती है।

५. निरुद्धावस्था

यह मानव को योगी (युक्त) अवस्था होती है। इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तथा समस्त चित्तवृत्तियाँ शान्त होती हैं।

योग के विघ्न तथा उपविघ्न

सभी योग विधाओं के तथा विशेषतया राजयोग के नव विघ्न (अन्तराय) तथा पांच उपविघ्न (उपान्तराय) योग दर्शन में प्रतिपादित हैं। ये नव विघ्न निम्नलिखित हैं।

(१) व्याधि (रोग), (२) स्त्यान (शिथिलता), (३) संशय (साधना में आशंका), (४) प्रमाद (जान-बूझकर साधना न करना), (५) आलस्य (साधना में आलस्य), (६) अविरति (विषयों के प्रति आसक्ति), (७) भ्रान्तिदर्शन (विपरीत निश्चय), (८) अलब्ध भूमिकत्व (योगाङ्ग साधना को करने पर भी मधुमती, मधुप्रतीका आदि समाधि भूमिकाओं का लाभ न होना) तथा (९) अनवस्थितत्व (भूमिका विशेष का लाभ होने पर भी चित्त का स्थिर न होना)। ये नव विघ्न ध्यान एवं समाधि के लिए प्रतिबन्धक होते हैं। इन्हीं को योगमल, अन्तराय, योग प्रतिपक्ष आदि भी कहते हैं।

पाँच उपविघ्न निम्नलिखित हैं—

(१) दुःख (सदा शोकमग्न रहना), (२) दौर्मनस्य (इच्छा की अतृप्ति में मन का क्षुब्ध होना), (३) अङ्गमेजयत्व (अङ्गकम्पन), (४) श्वास (बाह्य वायु को अन्तःप्रविष्ट करना) तथा (५) प्रश्वास (आभ्यन्तर वायु को बाहर निकालना)।

पञ्च क्लेश

जीवात्मा के निम्नलिखित पंच क्लेश हैं, जो योग साधना में नितान्त प्रतिबन्धक होते हैं।

(१) अविद्या (मिथ्याज्ञान), (२) अस्मिता (बुद्धि एवं इन्द्रियों में ऐक्यप्रतीति), (३) राग (अभीष्ट विषयों के प्रति आसक्ति), (४) द्वेष (अनभीष्ट वस्तुके प्रति क्रोध) तथा (५) अभिनिवेश (मृत्यु के भय से जीवित रहने की तीव्र अभिलाषा)।

अष्टाङ्गों की क्रमिक सिद्धि का महत्त्व

राजयोग के अष्टाङ्गों के वर्णन के पूर्व उक्त अङ्गों की क्रमिक सिद्धि के महत्त्व पर विचार करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। योग के विषय में भ्रान्त धारणा से अनुप्रेरित होकर सम्प्रति कतिपय आसनों का क्रियान्वयन 'योगा' कहकर होता है, जो सर्वथा अनभीष्ट है। इस तथा कथित योगा में अर्थात् आसनों के अभ्यास में आवश्यक स्त्री-पुरुष भेद का कोई महत्त्व नहीं होता। इससे स्त्री अथवा पुरुष किसी को भी स्वास्थ्य-हानि की सम्भावना हो सकती है। इसके अतिरिक्त, आसन-सिद्धि एवं लाभ उसी को हो सकता है, जो नैतिक चरित्र सम्पन्न तथा शुद्ध मनोवृत्ति से भी सम्पन्न होता है। दुराचार, अनाचार, व्यभिचार, तामस आहार-विहार, धूम्रपान, मद्यसेवन करनेवाले व्यक्ति का पाञ्चभौतिक अन्नमय कोष नितान्त विकृत होकर किसी भी आसन के योग्य ही नहीं होता। इसी प्रकार काम क्रोधादि विकारों से तथा विषयवासनाओं से अशान्त तथा अशुद्ध मन होने की स्थिति में भी आसन लाभप्रद न होकर हानि-कारक ही होते हैं। तात्पर्य आसनसिद्धि के लिए अन्नमय कोष, प्राणमय कोष तथा मनोमय कोष की शुद्धि एवं संवेदन शीलता अत्यन्त अपेक्षित होती है।

यमों का अर्थात् संयमों का पालन करनेवाले साधक को ही नियमों के पालन का अधिकार प्राप्त होता है। इसी प्रकार संयम एवं नियम पालन करनेवाला साधक आसन करने का अधिकारी होता है। तात्पर्य राजयोग के अष्टाङ्गों में, उत्तरांगों की सिद्धि पूर्वाङ्गों की सिद्धि पर ही सर्वथा अवलम्बित होती है। इसी तथ्य को मनु ने इस प्रकार इंगित किया है।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ (४।२०४)

तात्पर्य यह है कि यमों का पालन सर्वदा करना चाहिए। यमों का पालन न कर केवल नियमों का सर्वदा पालन नहीं करना चाहिए । क्योंकि यमों का पालन न करनेवाला तथा केवल नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति योग साधना में असफल होता है । मनुस्मृति का उक्त वचन औपलक्षणिक है । राजयोग के सभी अंगों का अनुसेवन, पालन तथा विहित अभ्यास सिद्धि के लिए अनिवार्य होता है । किसी भी अंग में अपूर्णता, त्रुटि आदि क्षम्य नहीं होती ।

राजयोग के अष्ट-अङ्ग

मेरे पूर्व निरूपण के अनुसार योगदर्शन में मानव के विषयासक्त चंचल चित्त को पूर्णतया नियन्त्रित एवं ध्येय के प्रति एकाग्र करने के लिए अष्टाङ्ग योग की साधना का विवरण प्रस्तुत हुआ है । इसके अन्तर्गत सभी अष्ट-अङ्गों की सर्वाङ्गीण सिद्धि के द्वारा राजयोगी साधक सिद्ध होकर राजयोग के अन्तिम उद्देश्य केवल्यमुक्ति को प्राप्त करता है । अतः जिज्ञासु साधक के लिए राजयोग के महत्त्वपूर्ण उक्त अष्ट-अङ्गों को अभिज्ञात करना नितान्त आवश्यक है । ये अष्ट अङ्ग निम्नलिखित हैं । (१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान तथा (८) समाधि । इनमें प्रथम पाँच को बहिरङ्ग तथा अन्तिम तीन को अन्तरङ्ग कहा जाता है ।

१. यम

यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत समाविष्ट हैं ।

अहिंसा

किसी भी प्राणि को मन, वचन तथा कर्म से किसी भी प्रकार का दुःख न पहुँचाना, किसी के प्रति द्वेष भाव को न रखना तथा किसी भी प्रकार से स्वतः को विघात न करना वास्तविक अहिंसा है । ऐसे अहिंसा व्रती व्यक्ति के समीप अहिंसा के महाव्रत के प्रभाव से प्राणियों का पारस्परिक वैरभाव नष्ट हो जाता है ।

सत्य

प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्दप्रमाण से परिनिश्चित, परहित-कामना पूर्वक तथा निष्कपट भाव से प्रिय किन्तु यथार्थ कथन सत्य होता है। तात्त्विक रूप में आत्मतत्त्व के अतिरिक्त सभी भौतिक पदार्थों को असत् मानकर परमात्मतत्त्व विषयक श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि को सत्य माना जाता है। सत्य सिद्ध योगी की वाक्शक्ति सत्य एवं सफल होकर कर्म एवं फल का आश्रय अर्थात् निमित्त होती है।

अस्तेय

मन, वाणी एवं कृति से अन्य व्यक्ति के किसी भी प्रकार के अधिकार को, स्वत्व को अथवा वस्तु को उसकी अनुमति के बिना न चाहना, न कहना, न लेना, न अपहृत करना तथा न चुराना अस्तेय है। इसी प्रकार अपहृत वस्तुओं का संग्रह न करना तथा उपयोग न करना भी अस्तेय कोटि में आता है। इस व्रत को सिद्धि से साधक के निकट सर्वरत्नों का उपस्थान होता है। तात्पर्य सभी लोगों का वह विश्वासपात्र होता है।

ब्रह्मचर्य

मन, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के द्वारा काम विकारों का, विषयों का तथा क्रियाओं का सर्वथा वर्जन करते हुए उचित एवं सात्त्विक आहार-विहार, अनुशासित आचार-विचार को अंगीकृत करना ब्रह्मचर्य होता है। ब्रह्मचर्य का वास्तविक एवं तात्त्विक अर्थ परमात्मतत्त्व परब्रह्म प्राप्ति जनक आचरण है। ब्रह्मचर्य की सिद्धि से बौद्धिक एवं शारीरिक शक्ति का विकास होता है।

अपरिग्रह

पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उपभोग्य समस्त पदार्थों के संग्रह तथा संरक्षण में आसक्त होकर मूढ़ अथवा विक्षिप्तावस्था को प्राप्त न होना तथा भ्रम, प्रमाद, संशय, आलस्य आदि दोषों का त्याग करना अपरिग्रह है। इसकी सिद्धि से मन संयमित होकर जन्मकथंता सम्बोध अर्थात् भूत वर्तमान तथा अनागत जन्मों के कारण स्थिति आदि का सम्यक् बोध होता है।

सभी देशों में, सभी समय में, सभी परिस्थितियों में तथा सभी जातियों में आबाल वृद्ध स्त्री-पुरुष सभी व्यक्तियों के लिए उक्त पाँचों यमों का पालन

करना सर्वथा श्रेयस्कर होने के कारण इन पाँचों यमों को सार्वभौम महाव्रत कहा गया है।

२. नियम

नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ये पाँच अन्तर्भूत हैं।

शौच

शौच अर्थात् पवित्रता दो प्रकार की होती है। (१) बाह्य पवित्रता तथा (२) आभ्यन्तर पवित्रता। जल से शरीर की, स्वार्थ त्याग, परोपकार आदि से आचरण की तथा न्याय से अर्जित द्रव्य से प्राप्त सात्त्विक भोजन से आहार की बाह्य पवित्रता होती है तथा अहन्ता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध आदि मनोविकारों के परित्याग से मन की आभ्यन्तर पवित्रता होती है। बाह्य पवित्रता से स्वतः के अंगों के प्रति घृणा होती है तथा दूसरों के शरीर के प्रति अरुचि होने के कारण संसर्ग नहीं होता।

सन्तोष

सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सफलता-असफलता आदि द्वन्द्व की स्थितियों में सर्वदा प्रसन्न, शान्त एवं सन्तुष्ट रहने को सन्तोष कहा जाता है। सन्तोष से श्रेष्ठतम मानसिक सुख की प्राप्ति होती है।

तप

तप तीन प्रकार का कहा गया है। (१) शारीरिक तप, (२) वाचिक तप तथा (३) मानसिक तप। शारीरिक तप में पवित्रता, ऋजुता, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि का पालन समाविष्ट है। वाचिक-तप में सत्य, प्रिय, हितकर तथा अनुद्वेगकर भाषण अन्तर्भूत है। मानसिक तप में विषय वासनाओं का त्याग, काम-क्रोधादि विकारों का वर्जन, मनोनिग्रह, एकाग्रता आदि का अन्तर्भाव होता है। संक्षेप में इन्द्रिय दमन, मनोनिग्रह, धर्मानुष्ठान, पुरश्चरण, व्रत, तितिक्षा आदि का समुच्चय तप कहलाता है। तप से पापों का विनाश होकर अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियां तथा दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि इन्द्रियों की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।
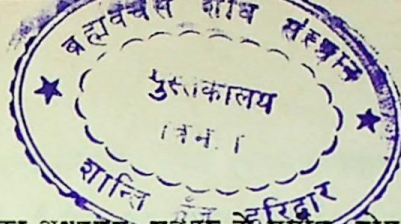
स्वाध्याय

आध्यात्मिक दर्शनों का अध्ययन, सद्गुरु के समीप योग सिद्धान्तों का श्रवण-मनन-निदिध्यासन, इष्टदेव के नाम का संकीर्तन, परा एवं अपरा विद्याओं का अध्ययन तथा सद्गुरु के उपदेशों का श्रवण स्वाध्याय कहलाते हैं। स्वाध्याय से इष्टदेव का दर्शन सुलभ होता है।

ईश्वर प्रणिधान

मन, वचन तथा कर्म से ईश्वर की आराधना, अनन्यभाव से भगवच्च-रणारविन्दयुगल में शरणागति तथा निष्काम समस्त कर्मों का ईश्वर के चरणों में दिव्य किंकर भाव से समर्पण हो ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। ईश्वरप्रणिधान से मन की शुद्धि, निरोध, ध्येय के प्रति एकाग्रता तथा ध्यानसिद्धि होकर फलतः समाधि भी सिद्ध होता है।

यम एवं नियम में प्रतिबन्धक, क्रोध, लोभ अथवा मोह से की हुई, कराई हुई अथवा अनुमोदित हिंसा, उपभोग्य पदार्थों का संग्रह, असन्तोष, ईश्वर, तप तथा स्वाध्याय के विषय में अविश्वास-अनादर आदि दोष वितर्क होते हैं। इनको दूर करने के लिए उक्त सभी दोषों को दुःखजनक समझना ही प्रतिपक्षभावना होती है। इसकी दृढ़ता से उक्त सभी प्रतिबन्ध दूर होकर यम-नियम साधना सुलभ होती है।

३. आसन

धार्मिक कर्मकाण्ड में उपासना-भक्तिकाण्ड में तथा योग-ज्ञानकाण्ड में आसनों को अत्यन्त महत्त्व प्राप्त है। स्थूल रूप में आसन दो प्रकार के होते हैं। (१) भूमि-आसन तथा (२) शरीर-आसन। भूमि-आसन वे होते हैं, जिनपर अनुष्ठान के लिए आसीन हुआ जाता है तथा शरीर-आसन वे होते हैं, जो शरीर के अंग-प्रत्यंगों की विशिष्ट स्थिति से सिद्ध होते हैं। इनमें भूमि-आसन पाँच प्रकार के होते हैं। (१) वस्त्र-आसन (कार्पास, कौशेय, ऊर्णा, वल्कल आदि से निर्मित), (२) चर्म-आसन (अज, मृग, हस्ति, व्याघ्र, सिंह आदि के चर्मों से निर्मित), (३) तृण-आसन (दूर्वा, कुश, तालपत्र आदि से निर्मित), (४) दारु-आसन (विविध काष्ठों से से निर्मित अनेक प्रकार के पीठ) तथा (५) धातु-आसन (ताम्र, पित्तल, रजत, स्वर्ण आदि से निर्मित)।

शारीरिक आसन

शारीरिक वह स्थिति आसन कहलाती है, जिसमें कष्ट का अनुभव न होते हुए स्थिरतापूर्वक दीर्घ समय तक बैठकर ध्यान-समाधि को सिद्ध किया जा सके। तात्पर्य शारीरिक स्वास्थ्य का अभिवर्धन, प्राण सयमन, नाड़ी शोधन, इन्द्रिय संयमन, मनोवृत्तियों का नियन्त्रण तथा मन का अनन्य-एकतान-एकाग्रीकरण होने में जो शारीरिक स्थितियाँ पूर्णतया अनुकूल होती हैं वे आसन पदवाच्य होती हैं।

आदि समय में भगवान् शिव ने चौरासी लक्ष योनियों के लिए चौरासी लक्ष आसनों की परिकल्पना की थी। किन्तु कालान्तर में वे लुप्त होकर सम्प्रति चौरासी आसन ही प्रचलित रह गए। भूत समय में परम योगी गोरक्षनाथ तथा परम भोगी कोकनाथ ने भी क्रमशः योग एवं भोग (स्त्री सम्भोग) के आसनों की संख्या चौरासी ही निश्चित की है। यद्यपि हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता, योग प्रदीप, विश्वकोष, अनुभव प्रकाश, आसन आदि प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रंथों में पृथक् रूप में परिगणित आसनों की संख्या शताधिक होती है, तथाऽपि योगदर्शन के उपजीवक प्रमाण-आकर ग्रन्थों के अनुसार उक्त आसनों की वास्तविक संख्या चौरासी ही सर्वमान्य है। उक्त चौरासी आसनों में शारीरिक स्वास्थ्यकारक तथा मनःस्वास्थ्य कारक आसन भिन्न-भिन्न प्रतिपादित है। मनःस्वास्थ्य कारक एवं धारणा-ध्यान-समाधि सिद्धि के अनुकूल आसनों में सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन तथा सिंहासन श्रेष्ठ माने जाते हैं। इनमें भी पद्मासन श्रेष्ठतम माना जाता है। इसके अभ्यास से समस्त अभीप्सित सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसके अभ्यास में यदि त्रुटि भी हो तो कोई अनिष्ट नहीं होता। अन्य आसनों में अनिष्ट की बिभीषिका से त्रुटि क्षम्य नहीं होती।

चौरासी आसनों का संक्षिप्त परिचय[१]

१. सिद्धासन : इससे मानव शरीर के अन्तर्गत बहत्तर हजार नाडियों का शोधन होकर उनमें शुद्ध नवीन रक्त का सञ्चार होता है।

---

१. आसनों में अन्यतम तथा अतिरिक्त साधक के शारीरिक स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक चौरासी आसनों की क्रियापद्धति तथा उनके लाभ के विषय के संक्षिप्त विवरण को यथा स्थान 'आसनों का क्रियाऽन्वयन एवं लाभ' शीर्षक अग्रिम परिच्छेद में प्रस्तुत किया गया है।

शरीर में स्फूर्ति बढ़ती है तथा मोह का नाश होकर भगवच्चिन्तन में मन एकाग्र होता है।

२. प्रसिद्ध सिद्धासन : इससे शारीरिक समस्त व्याधियाँ दूर होती हैं तथा साधक में नम्रता का भाव उद्बुद्ध होता है।

३. पद्मासन : इससे समस्त प्रकार की इष्ट सिद्धि होती है तथा भगवच्चरणों में मन अनुरक्त होता है।

४. बद्ध पद्मासन : इससे मन को शान्ति प्राप्त होती है।

५. उत्थित पद्मासन : इससे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। हृदय कमल प्रफुल्लित होता है तथा श्वास व्याधि दूर होती है।

६. ऊर्ध्व पद्मासन : इससे मेरुदण्ड दृढ़ एवं बलवान् होता है तथा शरीर में रुधिराभिसरण सम्यक्तया होने लगता है।

७. सुप्त पद्मासन : इससे उदर के रोग दूर होते हैं।

८. भद्रासन : इससे सम्पूर्ण कार्यों में मन की एकाग्रता होती ।

९. स्वस्तिकासन : इससे शारीरिक स्वास्थ्य का अभिवर्धन होकर मन की उत्साह शक्ति वृद्धिगत होती है।

१०. योगासन : इससे मन की चंचलता दूर होकर वह स्थिर होता है। अनिद्रा, अतिनिद्रा आदि रोग दूर होते हैं तथा योगसिद्धि प्राप्त होती है।

११. प्राणासन : इससे रक्त की शुद्धि, नाड़ी-शुद्धि तथा मनःशुद्धि होती है।

१२ मुक्तासन : इससे अभीष्ट सिद्धि की प्राप्ति होती है।

१३. पवन मुक्तासन : इससे बृहदमन्त्र का दोष दूर होता है और अपान वायु शुद्ध होती है।

१४. सूर्यासन : इससे औदर्य अग्नि प्रदीप्त होती है।

१५. सूर्य भेदनासन : इससे नेत्र रोग दूर हो जाते हैं।

१६. भस्त्रिकासन : इससे सभी प्रकार के ज्वर दूर होते हैं। विषम-ज्वर का उपशम होता है। पाचन शक्ति वृद्धिगत होती है। रक्त शुद्ध होता है।

१७. सावित्री समाधि-आसन : इससे ओज, तेज तथा मेधा की वृद्धि होती है।

१८. अचिन्तनीयासन : इससे शारीरिक एवं मानसिक चेतना की वृद्धि होती है।

१९. ब्रह्म ज्वरांकुशासन : इससे शारीरिक व्याधियाँ दूर होती हैं।

२०. उद्धारकासन : इससे प्रजननाङ्ग को बल मिलता है।

२१. मृत्युभञ्जकासन : इससे प्रकुपित वात शान्त होता है।

२२. आत्मारामासन (आदि आसन, अलोप आसन तथा अध्यात्म आसन) : इससे चिन्ता दूर होती है।

२३. भैरवासन : इससे कुण्डलिनी क्षुब्ध होती है। यकृतवृद्धि, प्लीहावृद्धि नहीं होती। हृदय रोग नहीं होता तथा वायु विकार नष्ट हो जाता है।

२४. गरुडासन : इससे गतिशीलता एवं स्फूर्ति बढ़ती है।

२५. गोमुखासन : इससे मुख रोग दूर होते हैं।

२६. वातायनासन : इससे जीवन में प्रगति होती है।

२७. सिद्ध मुक्तावली आसन : इससे मन प्रसन्न होता है।

२८. नेति आसन : इससे साधक मल रहित होता है।

२९. पूर्वासन : इससे प्राचीन स्मृति जागृत होती है।

३०. पश्चिमतानासान : इससे अन्नगत कृमि नष्ट होते हैं। वायु विकार कम हो जाता है तथा क्षुधा वृद्धिगत होती है।

३१. महामुद्रासन : इससे रस, विष, कुपथ्य सभी का पाचन हो जाता है। क्षय, कुष्ठ, गुल्म तथा उदावर्त नष्ट हो जाते हैं तथा साधक को मृत्यु-भय नहीं होता है।

३२. वज्रासन : इससे सामान्य व्याधियाँ दूर होती हैं तथा आयुवृद्धि होती है।

३३. चक्रासन : इससे कुण्डलिनी शक्ति कुण्ठित होती है।

३४. **गर्भासन :** इससे कष्ट सहन करने की शक्ति बढ़ती है।

३५. **शीर्षासन :** यह दस प्रकार से किया जाता है। इससे स्वास्थ्य, सौन्दर्य, वीर्य, बल की वृद्धि होती है तथा जीवन में उन्नति होती है।

३६. **हस्ताधार शीर्षासन :** इससे मस्तिष्क बलिष्ठ होता है।

३७. **ऊर्ध्व सर्वाङ्गासन :** इससे साधक की वृत्ति स्वतन्त्र होती है।

३८. **हस्त पादांगुष्ठासन :** इससे गर्दन, नासिका, उदर तथा कमर को शक्ति प्राप्त होती है।

३९. **पादांगुष्ठासन :** इससे दृष्टि तीक्ष्ण होती है।

४०. **उत्तान पादासन :** इससे प्राणवायु शुद्ध होती है।

४१. **जानुलग्न हस्तासन :** इससे उदर एवं कोष्ठ शुद्ध होता है।

४२. **एक पाद शिरासन :** इससे शरीर का आभ्यन्तर मल दूर होता है।

४३. **द्विपाद शिरासन :** इससे मन को सुख प्राप्त होता है।

४४. **एक हस्तासन :** इससे पृष्ठ भाग का शूल नष्ट होता है।

४५. **पादहस्तासन :** इससे शारीरिक बल बढ़ता है।

४६. **कर्णपीड मूलासन :** इससे जठर की अग्नि बढ़ती है।

४७. **कोणासन :** इससे उदर शुद्ध होता है।

४८. **त्रिकोणासन :** इससे कटि की वेदना दूर होती है।

४९. **चतुष्कोणासन :** इससे बुद्धिबल बढ़ता है।

५०. **कन्दपीडासन :** इससे मज्जा ग्रन्थि विमुक्त होती है।

५१. **तुलितासन :** इससे शरीर स्थिर तथा सन्तुलित होता है।

५२. **वृक्षासन (लोलासन, ताडासन) :** इससे स्नायु मण्डल सशक्त होता है।

५३. **धनुष्यासन :** इससे वीरवृत्ति की जागृति होती है। त्राटक का अभ्यास होकर आलस्य दूर होता है।

५४. **वियोगासन :** इससे प्लीहा के दोष नष्ट होते हैं।

५५. विलोमासन : इससे प्राचीन एवं जीर्ण रोग दूर होते हैं।

५६. योन्यासन : इससे मलद्वार के रोग दूर होते हैं।

५७. गुप्तांगासन : इससे गुप्त रोग दूर होते हैं।

५८. उत्कटासन : इससे निम्नांगों को बल प्राप्त होता है।

५९. शोकासन : इससे अपस्मार (मृगी) रोग दूर हो जाता है।

६०. संकटासन : इससे कमर का दुःख दूर हो जाता है।

६१. अन्धासन : इससे रतौंधी रोग दूर हो जाता है।

६२. रुण्डासन : इससे भय दूर हो जाता है।

६३. शवासन : इससे पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होती है।

६४. वृषासन : इससे वीर्य स्तम्भन होता है।

६५. गोपुच्छासन : इससे पाप दूर हो जाता है।

६६. उष्ट्रासन : इससे शीत-उष्ण सहने की शक्ति प्राप्त होती है।

६७. मर्कटासन : इससे नाभि की नाड़ी शुद्ध होती है।

६८. मत्स्यासन : इससे शरीर स्थिर रहता है।

६९. मत्स्येन्द्रासन : इससे वीर्य-वृद्धि होती है।

७०. मकरासन : इससे शारीरिक बल बढ़ता है।

७१. कच्छपासन : इससे मन स्थिर होता है।

७२. मण्डूकासन : इससे शरीर सूक्ष्म होता है।

७३. उत्तान मण्डूकासन : इससे तरण शक्ति की वृद्धि होती है।

७४. हंसासन : इससे शान्ति प्राप्त होतो है।

७५. बकासन : इससे जल के आघात को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है।

७६. मयूरासन : इससे गुल्म, यकृत, प्लीहा, अन्त्र आदि के रोग दूर होते हैं तथा दूर श्रवण की शक्ति की वृद्धि होतो है।

७७. कुक्कुटासन : इससे कामेच्छा नियंत्रित होती है।

७८. **फोद्यासन :** इससे रक्तपित्त का उपद्रव शान्त होता है।

७९. **शलभासन :** इससे बाहुबल बढ़ता है।

८०. **वृश्चिकासन :** इससे स्वभाव में उग्रता बढ़ती है।

८१. **सर्पासन (भुजंगासन) :** इससे अग्निमान्द्य एवम् अपच रोग दूर होते हैं।

८२. **हलासन :** इससे साधक बलिष्ठ होता है।

८३. **वीरासन :** इससे धैर्य एवं दूरदर्शिता की वृद्धि होती है।

८४. **शान्तिप्रियासन :** इससे साधक को सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं।

राजयोग के बाह्य अंग प्राणायाम तथा प्रत्याहार की सिद्धि के लिए तथा आभ्यन्तर अंग धारणा, ध्यान एवं समाधि की सिद्धि के लिए नितान्त आवश्यक आसन बन्ध के रूप में सिद्धासन अथवा पद्मासन अभीष्ठ होता है। अतएव सिद्धासन विशेषतया पद्मासन समस्त आसनों में श्रेष्ठतम माना जाता है। यौगिक साधना के लिए अनिवार्य रूप में मेरुदण्ड ग्रीवा तथा मस्तक एक रेखा में होना आवश्यक होता है। इसी प्रकार अर्धोन्मीलित दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर अथवा भ्रूमध्य में केन्द्रित होनी आवश्यक होती है। उक्त दोनों बातें पद्मासन में पूर्णतया सम्पन्न होती हैं। पद्मासन में राजयोगी साधक स्वाभाविक तथा सुखकर अवस्था के साथ अवस्थित होता है। इस आसन में साधक के लगातार चार घण्टा अड़तालिस मिनट तक निश्चल भाव से बैठने के अभ्यास से ही उसे आसन सिद्धि होती है। आसन सिद्धि से राजयोगी साधक का शरीर स्वस्थ, संयत तथा सुदृढ़ होता है तथा उसको शीत-उष्ण, मृदु-कठोर, कोमल-तीव्र आदि स्पर्श, शब्द, रूप, रस तथा गन्ध के द्वन्द्वों से किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

४. प्राणायाम

श्वास एवं प्रश्वास की स्वाभाविक गति का अवरोध (विच्छेद) प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ प्राण-संयम होता है। फुपफुसों में श्वास नलिका से नासिका रन्ध्र के द्वारा प्रविष्ट होने वाला श्वास ही उसी प्रणाली से निर्गमन करते समय प्रश्वास हो जाता है। उक्त

अवरोध अर्थात् विच्छेद का कार्य प्राण सम्बद्ध होता है अथवा श्वास-प्रश्वास से सम्बद्ध; यह विचारणीय विषय प्रतीत होता है। अतः कतिपय मनीषी इसको प्राणायाम न कहकर श्वासायाम कहते हैं, जो विप्रतिपन्नरूप में अनुभूत होता है। सामान्यतया प्राणायाम के तीन भेद प्रतिपादित हैं। (१) बाह्यवृत्ति प्राणायाम, (२) आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम तथा (३) स्तम्भवृत्ति प्राणायाम। ये तीनों प्राणायाम देश, काल तथा संख्या के भेद से दीर्घ तथा सूक्ष्म होते हैं।

(१) बाह्यवृत्ति प्राणायाम

इस प्राणायाम में, आठ प्रणवों के उच्चारण को अवधि में प्रश्वासरेचन कर सोलह प्रणवों के उच्चारण-अवधि में बाह्य कुम्भक होता है। अन्त में चार प्रणवों के उच्चारण-समय में श्वास-पूरण करना होता है।

(२) आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम

इस प्राणायाम में, चार प्रणवों के उच्चारण समय में श्वास का पूरण होता है, सोलह प्रणवों के उच्चारण की अवधि में आभ्यन्तर कुम्भक होता है तथा आठ प्रणवों के उच्चारण के समय में प्रश्वास का रेचन होता है।

(३) स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम

इस प्राणायाम में चार प्रणवों के उच्चारण-समय में श्वास-पूरण तथा आठ प्रणवों के उच्चारण-समय में प्रश्वास-रेचन, इच्छा के अनुसार अनेक बार होता है। इसी के मध्य स्वेच्छा एवं सुविधा के अनुकूल कभी भी बाह्य अथवा अभ्यन्तर कुम्भक सोलह प्रणवों के उच्चारण की अवधि में होता है।

प्राणवायु का आभ्यन्तर देश नासिका, कण्ठ, हृदय (फुफ्फुस) तथा नाभि प्रदेश होता है। उसका बाह्यदेश नासिका पुट से बाहर चार अंगुल, आठ अंगुल, बारह अंगुल तथा सोलह अंगुल परिमाण का होता है। श्वासपूरण यदि नाभि तक होता है तो प्रश्वास रेचन सोलह अंगुल परिमाण का होना चाहिए। वह यदि हृदय तक होता है, तो प्रश्वासरेचन बारह अंगुल परिमाण का होना चाहिए। यदि पूरण कण्ठगत होता है तो रेचन आठ अंगुल परिमाण का होना चाहिए तथा पूरण यदि नासिका मूल तक ही होता है तो रेचन चार अगुल परिमाण का होना श्रेयस्कर होता है।

उक्त चारों प्राणायामों में प्रथम दो प्राणायाम दीर्घ तथा बाद के दो प्राणायाम ह्रस्व (सूक्ष्म) कहे गये हैं।

चतुर्थ प्राणायाम

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरूप ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के एवं संकल्प-विकल्प-वासना-लालसा आदि मानसिक विषयों के परित्याग से तथा कुवासनाओं के निर्लेप से होनेवाले प्राणों की गति का स्वतः सिद्ध अवरोध चतुर्थ प्राणायाम होता है। इस प्राणायाम की विशेषता यह है कि इसमें प्राण संयम से मनःसंयम न होकर मनःसंयम से प्राण संयम होता है।

राजयोग के चतुर्थ बाह्य अंग प्रणायाम की सिद्धि से पापक्षालन होकर अज्ञाननाश से विवेक जागृत होता है तथा मन स्थिर होकर धारणा के योग्य होता है। स्थूलतया प्राणायाम की सिद्धि का फल प्राण का संयमन होता है।

योग दर्शन के अनुसार स्वात्माराम सूरि ने प्राणायाम के नव प्रकारों को प्रतिपादित किया है। (१) लोम-विलोम प्राणायाम, (२) सूर्यभेदन प्राणायाम, (३) उज्जयी प्राणायाम, (४) शीतकारी प्राणायाम, (५) शीतली प्राणायाम, (६) भस्त्रिका प्राणायाम, (७) मूर्च्छा प्राणायाम, (८) भ्रामरी प्राणायाम, तथा (९) प्लाविनी प्राणायाम।

(१) लोम-विलोम प्राणायाम

इस प्राणायाम के लिए पद्मासन अथवा सिद्धासन पर बैठकर, मस्तक, ग्रीवा तथा मेरुदण्ड को एक रेखा में स्थिर रखकर तथा अशुद्ध वायु को प्रश्वास के रूप में बाहर निकालकर फुफ्फुस, उदर आदि को खाली करना आवश्यक होता है। इसके पश्चात् वाम नासिका से चार, आठ अथवा सोलह मात्राओं के समय में श्वास का पूरण करते हैं। उसके बाद जालन्धर बन्ध (ठुड्डी को कण्ठ कूप पर दृढ़ता से दबाना) के साथ यथाशक्ति सोलह, बत्तीस अथवा चौंसठ मात्राओं के समय में प्रणव, व्याहृति अथवा गायत्री मन्त्र का जप करते हुए आभ्यन्तर कुम्भक करना होता है। इसके पश्चात् कण्ठ कूप से ठुड्डी हटाकर अर्थात् जालंधर बन्ध को हटाकर आठ,

सोलह अथवा बत्तीस मात्राओं के समय में दक्षिण नासिका से प्रश्वास का रेचन करते हैं। रेचन के पश्चात् बाह्यकुम्भक होता है। फिर उड्डीयान बन्ध के साथ दक्षिण नासिका से श्वास-पूरण, यथाशक्ति आभ्यन्तर कुम्भक तथा वाम नासिका से प्रश्वास-रेचन करते हैं। इस प्राणायाम में पूरण, कुम्भन तथा रेचन में मूल बन्ध अनिवार्य होता है। इस प्रकार यह लोम-विलोम प्राणायाम पूर्ण होता है। इससे शारीरिक समस्त नाड़ियों की शुद्धि होती है। यह प्राणायाम समशीतोष्ण होने के कारण सभी ऋतुओं मे लाभप्रद होता है।

(२) सूर्यभेदन प्राणायाय

सिद्धासन अथवा पद्मासन पर बैठकर दक्षिण नासिका से श्वास का पूरण करना चाहिए, यथाशक्ति श्वास का कुम्भन करना चाहिए तथा वाम नासिका से प्रश्वास का रेचन करना चाहिए। यह क्रिया दस से बीस बार करनी होती है। इससे शरीर में उष्णता की वृद्धि होती है। अतः इस प्राणायाम का अभ्यास शीत ऋतु में ही करना चाहिए। इससे शिरः शूल, कृमिरोग तथा वायु विकार दूर होते हैं।

(३) उज्जयी प्राणायाम

इसमें दोनों नासिकाओं से श्वास का पूरण होता है। यथाशक्ति कुम्भन तथा वाम नासिका से धीरे-धीरे प्रश्वास का रेचन होता है। इसको भी दस-बीस बार करना होता है। यह प्राणायाम भी उष्णता जनक होने के कारण शीत ऋतु में करना श्रेयस्कर होता है। इसके अभ्यास से दमा, क्षय, गुल्म, जालन्धर आदि रोग दूर होकर आयु की वृद्धि होती है।

(४) शीतकारी प्राणायाम

दोनों नासिकाओं को बन्दकर होठ एवं जीभ से (मुख से) इस प्राणायाम में पूरण होता है तथा यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासिकारन्ध्रों से धीरे-धीरे रेचन होता है। यह प्राणायाम शीतल होने के कारण ग्रीष्म ऋतु में इसका अभ्यास लाभप्रद होता है। इसके अभ्यास से विभिन्न प्रकार के ज्वर, शीतज्वर, प्लीहा तथा उदर रोगों का नाश होता है।

(५) शीतली प्राणायाम

इस प्राणायाम में दोनों नासिकाएँ बन्दकर जीभ को कौए की चोंच के समान झुकाकर उससे पूरण होता है तथा यथाशक्ति कुम्भन कर दोनों नासिका रन्ध्रों से धीरे-धीरे रेचन करना होता है। आरम्भ में इसको दस से बीस बार तक करना होता है। यह प्राणायाम शीतल होने के कारण इसका अभ्यास ग्रीष्म ऋतु में करना लाभप्रद होता है। यह भी शीतकारी प्राणायाम के समान ही रोग नाशक है। रूप तथा लावण्य की वृद्धि होना इसकी विशेषता है।

(६) भस्त्रिका प्राणायाम

इसके दो प्रकार हैं। पहला प्रकार है, वाम नासिका से न्यूनतम दस बार पूरण-रेचन, इस प्राणायाम में होता है। ग्यारहवीं बार पूर्णतया पूरण कर यथाशक्ति कुम्भन करने के पश्चात् दक्षिण नासिका से धीरे-धीरे रेचन करना होता है। तत्काल इसके पश्चात् दक्षिण नासिका से न्यूनतम दस बार शीघ्र पूरण-रेचन करना होता है। इसके पश्चात् पूरणकर यथा शक्ति कुम्भन करना होता है तथा वाम नासिका से शनैः-शनैः रेचन करना होता है। इस विधि से यह भस्त्रिका प्राणायाम पाँच से दस संख्या तक करना चाहिए। यह प्राणायाम, समशीतोष्ण होने के कारण इसका अभ्यास सर्वदा हो सकता है। इस प्राणायाम से त्रिदोष अर्थात् वात, पित्त तथा कफ की विषमता दूर होती है तथा शरीर रोग से रहित होता है। दीर्घ समय तक इसके अभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी जागृत होती है।

दूसरे प्रकार के अनुसार, दक्षिण नासिका से पूरण तथा वाम नासिका से रेचन इस प्रकार दस बार करने के पश्चात् दक्षिण नासिका से पूरणकर यथाशक्ति कुम्भन करना होता है तथा वाम नासिका से धीरे-धीरे रेचन करना आवश्यक होता है। इसके तत्काल पश्चात् विपरीत क्रम से वाम नासिका से पूरण तथा दक्षिण नासिका से रेचन दस बार करने के अनन्तर वाम नासिका से पूर्णतया पूरण करना होता है तथा यथाशक्ति कुम्भन कर दक्षिण नासिका से शनैः शनैः रेचन करना पड़ता है। यह प्राणायाम भी त्रिदोष शामक तथा स्वास्थ्यप्रद होता है। दीर्घकालिक अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति भी जागृत होती है।

(७) मूर्च्छा प्राणायाम

इस प्राणायाम में हाथों के दोनों अँगूठे दोनों कानों पर, दोनों तर्जनियाँ दोनों आखों पर, दोनों मध्यमाएँ दोनों नासिकाओं पर तथा अनामिकाएँ एवं कनिष्ठिकाएँ मुख पर रखकर मूल बन्ध तथा जालन्धर बन्ध को आदि से अन्त तक स्थिर कर वाम नासिका से पूरण, यथाशक्ति कुम्भन तथा दक्षिण नासिका से धीरे-धीरे रेचन होता है। इसको षण्मुखी मुद्रा भी कहते हैं। इससे पञ्चमहाभूतों के स्वरूप का ज्ञान होता है तथा मन समाधि की ओर उन्मुख होने के लिए एकाग्र होता है।

(८) भ्रामरी प्राणायाम

इस प्राणायाम की क्रिया में लोम-विलोम प्राणायाम की क्रिया के समान ही पूरण, कुम्भन तथा रेचन की प्रक्रिया होती है। इसमें अन्तर इतना ही है कि इस प्राणायाम में पूरण के समय में भ्रमरी का नाद तथा रेचन के समय में भ्रमर का नाद करना चाहिए। इस प्राणायाम से आनन्द की प्राप्ति तथा मन की एकाग्रता होती है।

(९) प्लाविनी प्राणायाम

इस प्राणायाम में पद्मासनपर बैठकर, दोनों हाथों को सीधा ऊपर उठाकर तथा दोनों नासिकाओं से श्वास का पूरण कर पद्मासन को न खोलते हुए लेटना होता है। दोनों हाथों को मस्तक के नीचे रखकर यथाशक्ति कुम्भन करना होता है। इसी समय अपने को कपास के समान हलका समझना होता है तथा बैठकर दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे रेचन करना होता है। इस प्राणायाम से साधक को दीर्घ अभ्यास के पश्चात् लघिमा सिद्धि प्राप्त होती है।

प्रायः उक्त सभी प्राणायामों में कतिपय बन्ध एवं मुद्राएँ आवश्यक होती है। वे ये हैं—मूलबन्ध, महाबन्ध, उड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध, महामुद्रा, नभोमुद्रा, विपरीतकरणी आदि।

५. प्रत्याहार

श्रोत्रेन्द्रिय (कान में), त्वगिन्द्रिय (त्वचा में), चक्षुरिन्द्रिय (नेत्रों में), रसनेन्द्रिय (जिह्वा में) तथा घ्राणेन्द्रिय (नासिका में) इन पांच ज्ञाने-

न्द्रियों को सतत अभ्यास, संयम एवं विवेक के द्वारा उक्त इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध एवम् इनके असंख्य विकारों से पूर्णतया निवृत्त कर अर्थात् हटाकर मनके अधीन करना तथा उक्त इन्द्रियों का मन के नितान्त अधीन, अनुकूल एवं तद्रूप हो जाना प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार की दशा में साधक के ज्ञानेन्द्रिय, समस्त सांसारिक विषयों से असम्बद्ध होने के कारण उसको बाह्य ज्ञान नहीं होता। संसारिक दशा में ही उसको लौकिक विषयों का ज्ञान होता है।

प्रत्याहार साधना के लिए निम्नलिखित अभ्यास नियमित रूप में साधक को अपेक्षित होते हैं।

१. पद्मासन पर बैठकर केवल कुम्भन क्रिया के द्वारा श्वास-प्रश्वास की गति को अवरुद्ध करना।

२. सिद्धासन पर बैठकर त्रिकुटी अर्थात् नासिकाग्र पर निर्निमेष स्थिर दृष्टि को एकाग्र करना।

३. प्रागुक्त मूर्छाप्राणायाम के अभ्यास को सतत करना।

४. प्रशान्त मनः पूर्वक बारह सहस्र प्रणवों का जप करना।

५. विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास को करना।

६. श्वास-प्रश्वास के उद्‌भव-लय स्थानों में चित्तवृत्ति को स्थिर करना। प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियों का संयम, मनकी शुद्धता, अरोग्य तथा ध्यान-समाधि की योग्यता प्राप्त होती है।

६. धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (३/१)

इस पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार किसी भी देश विशेष में चित्त को स्थिर करना ही धारणा है। यह देश विशेष साधक की इच्छा के अनुसार भौतिक दैविक अथवा आत्मिक हो सकता है। तात्पर्य चित्त-वृत्तियों को किसी भी ध्येय के प्रति स्थिर करने से, मन को सन्तत एकाग्र करने से ही मनोवृत्तियाँ नियन्त्रित होकर ध्यान के लिए अनुकूल भूमिका को तैयार करती हैं। जिस प्रकार सूची के छिद्र में बहुमुखी सूत्र प्रविष्ट नहीं हो सकता, उसको एकाग्र करना पड़ता है; तभी वह सूची के छिद्र में सुलभता से प्रविष्ट होता है। इसी प्रकार ध्येय के संकुचित छिद्र में बहुशाख

चंचलवृत्ति के मन को प्रविष्ट करना असम्भव होता है। उसे अभ्यास एवं वैराग्य से एकाग्र करने पर ही वह सुलभता से ध्येय के प्रति ध्यान प्रवण होता है। इस दृष्टि से राजयोग के अभ्यान्तर अंगों में धारणा की भूमिका नितान्त महत्त्वपूर्ण है। तात्पर्य, धारणा की साधना से मन का पूर्ण संयम होता है।

मुद्राएँ

धारणा की सिद्धि के लिए निम्नलिखित मुद्राओं का अभ्यास आवश्यक होता है।

(१) आगोचरी मुद्रा

इसमें मनोवृत्ति को नासिका के अग्र पर स्थिर किया जाता है।

(२) भूचरीमुद्रा

इसमें मनोवृत्ति को नासिका के अग्र से चार अंगुल दूर अवकाश में स्थिर किया जाता है।

(३) चाचरी मुद्रा (खेचरी मुद्रा)

इसमें आज्ञा चक्र में मनोवृत्तियों को स्थिर किया जाता है।

(४) शाम्भवी मुद्रा

इसमें मन को आज्ञाचक्र में स्थिर कर दृष्टि को नासाग्र से अधिक से अधिक एक गज तथा कम से कम एक फुट दूर अवकाश में मनः-कल्पित ध्येय में मनोवृत्तियों को स्थिर किया जाता है। इसमें बर्हिलक्ष्य का अर्न्तलक्ष्य होता है। स्फुरित परा का पश्यन्ती बनकर मध्यमा तथा वैखरी में हुए ऐक्य का परीक्षण रूप अर्न्तलक्ष्य शाम्भवी मुद्रा में विशेष महत्त्व रखता है।

७. ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (३/२)

इस योगसूत्र के अनुसार ध्येय वस्तु में मनोवृत्ति की सन्तत एकतानता को ध्यान कहते हैं। यह एकतानता जल-प्रवाह के समान अविच्छिन्न होती है। इसमें मन पूर्णतया विषयवासना से रहित होता है। अतः मनोवृत्ति का बहिर्मुख एवं बहुमुख न होकर अन्तर्मुख तथा एकाग्र-एकतान-अविछिन्न

होना ध्यान में नितान्त अपेक्षित होता है। स्थूल रूप में ध्यान तीन प्रकार का होता है। (१) स्थूलध्यान, (२) ज्योतिर्ध्यान तथा (३) सूक्ष्मध्यान।

(१) स्थूलध्यान

सामान्यतया भगवन्नामस्मरण, पूजन, जप आदि में भगवद्विग्रह का जो ध्यान करते हैं उसे स्थूलध्यान कहा जाता है।

(२) ज्योतिर्ध्यान

इसको तेजोध्यान भी कहते हैं। मूलाधार चक्र के मध्य में स्थित कुण्डलिनी शक्ति के समीप जीवात्मा दीप-शिखा के समान विद्यमान होता है। उसी स्थान पर स्वयं प्रकाश ज्योतिरूप ब्रह्म का ध्यान करने को ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। प्रकारान्तर में, भ्रुकुटी के मध्य में आज्ञाचक्र के मध्य ओंकार रूप ज्योति का ध्यान करने को भी ज्योतिर्ध्यान कहते हैं।

(३) सूक्ष्मध्यान

षट् चक्र भेदन कर सहस्रार चक्र में प्रविष्ट हुई कुण्डलिनी शक्ति का शाम्भवी मुद्रा की सहायता से ध्यान करने को सूक्ष्मध्यान कहते हैं। इसी सूक्ष्मध्यान से आत्मसाक्षात्कार होता है तथा समाधिसिद्धि में सहायता प्राप्त होती है। अतः स्थूलध्यान से ज्योतिर्ध्यान श्रेष्ठ तथा ज्योतिर्ध्यान से सूक्ष्मध्यान श्रेष्ठतर माना जाता है।

८. समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (३।३)

इस पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार ध्याता एवं ध्यान के रूप को परित्यक्त करते हुए संकल्प-विकल्प-शून्य मन का केवल ध्येय के रूप में अवस्थित होना समाधि कहलाता है। तात्पर्य यह है कि समाधि अवस्था में राजयोगी साधक का चित्त ध्याता एवं ध्यान को भी विस्मृत कर केवल ध्येय के आकार को प्राप्त होता है अथवा ध्येय से तादात्म्य स्थापित करता है। इस समय साधक को ध्येय के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का भान नहीं होता। ध्यान में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय इस त्रिपुटी अर्थात् उक्त तीनों में पार्थक्य का अनुभव होता है, किन्तु समाधि

में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय में सम्पूर्ण तादात्म्य का अनुभव होकर ध्येय का ही कैवल्य से भान होता है तथा उक्त त्रिपुटी का लय हो जाता हैं।

मुण्डकोपनिषद्भाष्य में, भगवत्पाद शंकराचार्य ने निदिध्यासन अर्थात् गम्भीर ध्यान-चिन्तन की परिपाक दशा को समाधि माना है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार जीवात्मा तथा परमात्मा की समताऽवस्था ही समाधि है।

सामान्यतया समाधि दो प्रकार का प्रतिपादित है। (१) निर्वितर्क तथा (२) निर्विचार। ध्यान का विषय स्थूल पदार्थ होकर उसमें मन की जब तन्मयता होती है, तब उसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं। इसके विपरीत ध्यान पदार्थ अर्थात् ध्यान का विषय तन्मात्रात्मक सूक्ष्म होने पर उसमें मनकी जब तल्लीनता होती है, तब उसे निर्विचार समाधि कहते हैं। इन दोनों में कोई भी एक समाधि, यदि भौतिक ध्येय सम्बद्ध होता है तो वह भुक्तिप्रद अर्थात् अणिमाऽदि सिद्धिप्रदायक होता हैं। इसके विपरीत यदि यह समाधि आत्मतत्त्व-विषयक होता है, तो वह मुक्तिप्रद होता है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्यातेः। (२।२८)

इस पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार राजयोग के अष्टाङ्गों के (पाँच वाह्य-अंगों के तथा तीन आभ्यन्तर अंगों के) सम्यक् अनुष्ठान से पञ्च-कोषों के आवरण तथा मन की मलिनता का निराकरण होकर विवेक-ख्यातिपर्यन्त बुद्धि प्रदीप्त होती है तथा उक्ता विवेकख्याति से अविद्या का पूर्णतया निरास होकर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है तथा एतत्फलस्वरूप साधक को कैवल्य-निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से समाधि के दो भेद निरूपित हैं। (१) सम्प्रज्ञात समाधि तथा (२) असम्प्रज्ञात समाधि।

(१) सम्प्रज्ञात समाधि

इसको सविकल्प समाधि भी कहते हैं। इसमें ध्याता तथा ध्याना के अर्थात् मन एवं वृत्ति के विकल्प अर्थात् पार्थक्य का भान अर्थात् सम्प्रज्ञान

होते हुए भी मनोवृत्ति की ध्येय स्वरूप परमात्मतत्त्व की एकरूपता होती है। साधक की चित्तवृत्ति यद्यपि परब्रह्म में विलीनहोती है, तथाऽपि मनका उसमें लय न होकर पार्थक्य बना रहता है।

(२) असम्प्रज्ञात समाधि

इसी को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इसमें ध्याता ध्यान तथा ध्येय के पार्थक्य का अनुभव नहीं होता। चित्तवृत्ति के अन्य आलम्बन न रह कर वह ध्येय में, परमात्मतत्त्व में विलीन हो जाती है। इसके लिए चित्त की नितान्त निरुद्धावस्था आवश्यक होती है तथा सहायक पर-वैराग्य होता है। इसमें प्रज्ञा के संस्कार लुप्त होते हैं तथा अन्त में चित्त का विनाश होता है। इसको धर्ममेध समाधि कहते हैं। इसमें परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है तथा अन्त में जीवात्मा को सद्योमुक्ति प्राप्त होती है।

चित्तवृत्तियों को सांसारिक समस्त विषयों एवं उनके अनन्त विकारों से पूर्णतया निवृत्त तथा अवरुद्ध कर परमात्मतत्त्व की ओर उनको प्रवृत्त उन्मुख तथा अनन्य एकाग्र करना यह योग की प्रायः सभी विधाओं का प्रमुखतम उद्देश्य है। जीवात्मा तथा परमात्मा में यौगिक अष्टाङ्ग कठोर साधना के द्वारा सम्यग् योगात्मक ऐक्य तथा एतन्मूलक कैवल्यमुक्ति की प्राप्ति सभी योग प्रणालियों का चरम ध्येय है।

तात्पर्य यह है कि समस्त सांसारिक विषयों से पूर्णतया निवृत्त चित्तवृत्तियों की परमात्मतत्त्वविषयक प्रवणता से अविद्या जनित जीवात्मा की पृथक् सत्ता का तिरोभाव होकर स्वतः के वास्तविक रूप का भान होता है। चित्तवृत्तियों के निरोध में सातत्य, स्थयिता तथा अनन्य एकाग्रता के होने पर जीवात्मा एवं परमात्मा के भेद के मूल कारण अविद्या का भी नाश होकर आत्मतत्त्व के स्वरूप का पूर्णतया प्रमात्मक ज्ञान होता है।

मन्त्रजप योग की महाभाव समाधि में, हठयोग की महाबोध समाधि में तथा लय योग की महालय-समाधि में चित्तवृत्तियों का समस्तविषयों से निरोध तथा ध्येय-मुक्ति के प्रति तीव्रतम, अनन्य एकाग्र अनिरोध (अनुराग) कारण होते हैं। उक्त तीनों सविकल्प समाधियों में साधक

अभ्यास-वैराग्य की पराकाष्ठा से सांसारिकविषयों से निवृत्त करने के लिए चित्तवृत्तियों को बलपूर्वक अर्थात् निग्रह पूर्वक दबाता है। इसके विपरीत राजयोग की समाधि में, ध्येय में चित्तवृत्तियों का विलय कर तथा जीवात्मा के पार्थक्य विषयक ज्ञान के मूलकारण अविद्या को नष्ट कर उक्त चित्तवृत्तियों का वास्तविक निरोध सम्पन्न होता है।

मन्त्र एवम् इष्टदेव के अभेद से मन्त्रजपयोग की महाभाव समाधि, प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने से हठयोग की महाबोध समाधि, नाद एवं बिन्दु के ऐक्य से लय योग की महालय समाधि तथा ध्याता ध्यान एवं ध्येय के तादात्म्य से राजयोग की असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। चित्तवृत्तियों का बल पूर्वक निरोध तथा उनका ध्येय में पूर्णविलय इन दोनों में अन्तर प्रतीत होता है। चित्तवृत्तियों के बलपूर्वक निरोध में उनका पुनरुद्भव होने की सम्भावना होती है। किन्तु ध्येय में चित्त-वृत्तियों के पूर्णविलय होने की स्थिति में उनका पुनरुद्भव न होकर पूर्ण उच्छेद हो जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में यह कहना असङ्गत न होगा कि मन्त्रजपयोग, लय योग तथा हठ योग जहाँ सम्पन्न होते हैं, वहाँ राजयोग की असम्प्रज्ञात समाधि का कार्य प्रारब्ध होता है। इस कार्य-प्रक्रिया में राजयोगी सिद्ध वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत समाधि दशाओं से होते हुए, स्वतः के रूप को पूर्णतया प्राप्त कर परमात्मतत्त्व में पूर्णतया विलीन होता है अर्थात् कैवल्यात्मक सद्योमुक्ति को प्राप्त करता है।

उपनिषदों में राज योग का वर्णन

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में राजयोग के अष्ट अङ्गों का वर्णन इस प्रकार किया हुआ है।

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः।
अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः॥

सर्ववस्तुन्युदासीन भाव आसनमुत्तमम्।
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राण संयमः॥

चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम।
चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः॥

सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते॥ (२८-३१)

शरीर तथा इन्द्रिय विषयक वैराग्य यम है। परमात्मतत्त्व में सतत अनुरक्ति नियम है। सांसारिक सभी वस्तुओं के प्रति उदासीनता उत्तम आसन है। जगत् में मिथ्यात्व का निश्चय प्राणायाम है। चित्त की अन्तर्मुखता प्रत्याहार है। चित्त का परमात्मतत्त्व में स्थिर भाव ही धारणा है। चिन्मात्र अथवा सत्‌चित् आनन्दब्रह्म ही मैं हूँ यह चिन्तन ही ध्यान है तथा इस ध्यान की सम्यक् विस्मृति अर्थात् अवशिष्ट संस्कार की अवस्था ही समाधि है।

तेजोबिन्दु-उपनिषद् में राजयोग के पन्द्रह अङ्ग प्रतिपादित हैं। (१) यम, (२) नियम, (३) त्याग, (४) मौन, (५) देश, (६) काल, (७) आसन, (८) मूलबन्ध, (९) देहसाम्य, (१०) दृकस्थिति, (११) प्राणायाम, (१२) प्रत्याहार, (१३) धारणा, (१४) ध्यान तथा (१५) समाधि।

(१) यम

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥ (१।१७)

यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मरूप है। इस ज्ञान से होनेवाले पञ्चज्ञानेन्द्रियों तथा पञ्चकर्मेन्द्रियों के संयम को यम कहते हैं।

(२) नियम

सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः।
नियमोहि परानन्दोनियमात्क्रियते बुधैः॥ (१।१८)

'अहं ब्रह्मास्मि' इस विचार का अंगीकार तथा एतद्विपरीत विचारों का तिरस्कार नियम कहलाता है।

(३) त्याग

त्यागोहि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः॥ (१।१९)

आत्मेतर समस्त पदार्थों का चिन्तन न करना त्याग है।

(४) **मौन**

इतिवा तद्भवेन्मौनं सर्वं सहज संज्ञितम् ।
गिरां मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनाम् ॥ (१।२२)

ब्रह्म मन एवं वाणि के लिए अगोचर है। 'नेतिनेति' के अतिरिक्त शब्दों में जिसका वर्णन असम्भव है और यही मौन है।

(५) **देश**

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं सदेशो विजनः स्मृतः ॥ (१।२३)

जिसमें कभी भी कोई भी सांसारिक प्रपञ्च नहीं है तथा जो सर्वत्र व्याप्त है, ऐसा आत्मा ही साधना के लिए एकान्त देश है।

(६) **काल**

कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥ (१।२४)

समस्त भूतों की तथा ब्रह्म की जिससे क्षणमात्र में कल्पना होती है, ऐसा अखण्ड, आनन्द तथा अद्वितीय ब्रह्म ही साधक के लिए साधना का उपयुक्त काल हैं।

(७) **आसन**

सुखेनैव भवेद्यस्मिन् अजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयाद् अन्यत् सुखविनाशनम् ॥ (१/२५)

जिस शारीरिक स्थिति में सुख पूर्वक सतत ब्रह्म-चिन्तन होता है ऐसी स्थिति को आसन कहते हैं। इसमें सिद्धासन श्रेष्ठत्तम है।

(८) **मूलबन्ध**

यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदासेव्यः योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम् ॥ (१/२७)

जो समस्त लोकों का मूल है, जो चित्तनिरोध का भी मूल है, वह आत्मा ही ब्रह्मवादियों के लिए मूलबन्ध है, नकि गुद-संकोच।

(९) **देह साम्य**

> अङ्गानां समतां विद्यात्समे ब्रह्मणि लीयते ।
> नोचेन्नैवसमानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥ (१/२८)

अपने अंगो की समता ब्रह्म से करनी चाहिए। इससे योगी ब्रह्ममें लीन हो जाता है। अंगोंको ब्रह्म के समान न समझने पर वें अंग सूखे वृक्ष के समान व्यर्थ होते हैं।

(१०) **दृक्स्थिति**

> दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत् ।
> सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥ (१/२९)

दिव्य ज्ञान दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्ममय देखना चाहिए। इसी उदार दृष्टि से मुक्ति की प्राप्ति होती है, न कि नासिकाग्र अर्धोन्मीलित दृष्टि से।

(११) **प्राणायाम**

> चित्तादि सर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
> निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥ (१/३१)

चित्त आदि में ब्रह्मरूपता की भावना से सभी वृत्तियों का निरोध होता है तथा फलतः प्राण का भी निरोध होता है। यही प्राणायाम है।

(१२) **प्रत्याहार**

> विषयेष्वात्मतांदृष्ट्वा मनसश्चित्तरञ्जकम् ।
> प्रत्याहारः सविज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥ (१/३४)

समस्तविषयों में आत्मदृष्टि करने पर चित्त को जो सन्तोष एवं शान्ति प्राप्त होती है, वही प्रत्याहार है।

(१३) **धारणा**

> यत्र यत्र मनो याती ब्रह्मणस्तत्रदर्शनात् ।
> मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥ (१/३५)

जो भी मनोविषय हो, उसमें ब्रह्म साक्षात्कार होना यही वास्तविक धारणा है।

(१४) **ध्यान**

> ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्यां निरालम्बतया स्थितिः ।
> ध्यान शब्देन विख्यातः परमानन्ददायकः ॥ (१/३६)

'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस वृत्तिकी अन्य आलम्बनविहीन एकतान स्थिति ध्यान है। उक्त स्थिति परमानन्ददायक होती है।

(१५) **समाधि**

> निर्विकारतया वृत्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
> वृत्तिविस्मरणंसम्यक् समाधिरमिधीयते । (१/३७)

निर्विकार तथा ब्रह्माकार वृत्ति की स्थिति के पश्चात् परिणामित्व तथा परवैराग्य से उक्त वृत्तिका विस्मरण तथा विलय होकर संस्कार-शेष समाधि होता है।

राजयोग के विषय में, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, तेजोबिन्दु उपनिषद्, श्रीजाबालोपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद् आदि ग्रन्थों में विस्तृत विवरण हमें उपलब्ध होता है।

कतिपय मनीषियों का योग के विषय में अभिमत कुछ इस प्रकार है, जो विचारणीय प्रतीत होता है।

योग की किसी भी विधा में साधक की सभी शक्तियों का ईश्वरीय सभी शक्तियों में यदि विलय नहीं होता, तो उस विधाको पूर्ण योग नहीं कहा जा सकता है। साधक की तथा ईश्वर की प्रकृतियों में कोई भेद नहीं होता। ईश्वर की अपरा प्रकृतियां पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (पञ्चमहाभूत) मन, बुद्धि तथा अहंकार ये आठ हैं तथा पराप्रकृति जीव है। इस प्रकार जगत् को धारण करनेवाली सम्पूर्ण नव प्रकृतियां ईश्वरीय है। इनको वैश्विक तथा ब्रह्माण्डीय कहा जा सकता है। इन्ही ब्रह्माण्डीय प्रकृतियों की प्रतिकृति प्रत्येक पिण्ड (व्यक्ति) में विद्यमान होती है। तात्पर्य, योगी साधक में भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार तथा जीवात्मा ये नव शक्तियाँ रहती है तथा साधना के द्वारा साधक इन शक्तियों को (प्रकृतियों को) ईश्वरीय

अर्थात् ब्रह्माण्डीय नव शक्तियों में (प्रकृतियों में) जब विलीन करता है, तभी सम्पूर्ण योग सम्पन्न होता है। इसके लिए प्रमुखतम कारण योगी को साधना के अन्तर्गत स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होता है। यदि योग विधाओं में साधक उक्त शक्तियों में अन्यतम प्राण, कुण्डलिनी, अथवा जीव का विलय करता है, तो वह आंशिक योग होता है, सम्पूर्ण योग नही। तात्पर्य, साधकके आत्मा, बुद्धि, मन, अहंकार, अन्तःकरण पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चमहाभूत, आदि व्यष्टिगत तत्त्वों का वैश्विक समष्टिके परमात्मतत्त्व, बुद्धितत्त्व, मनस्तत्त्व, अन्तःकरणतत्त्व, अहंकारतत्व, पञ्चप्राणतत्त्व, पञ्चज्ञानेन्द्रियतत्त्व, पञ्चमहाभूततत्त्वों में पूर्णतया विलय होने पर ही सिद्धावस्थाप्राप्त योगी को सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु सम्पूर्णयोग की साधनावस्था तथा सिद्धावस्था के मध्य की उसकी स्थिति जीवन्मुक्त की होती है।

भूतजय एवं सिद्धियाँ

हठयोग के अंगभूत महामुद्रा, नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतमुद्रा आदि की सिद्धि से जागृत हुई कुण्डलिनी तथा सुषुम्ना के मुख में प्रविष्ट हुए प्राण से हठ योगी साधक सहजतया भूतजय तथा अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त निर्वितर्क अथवा निर्विचार समाधि के भौतिक ध्येय सम्बद्ध होने की स्थिति में भी उक्त समाधि से अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

भूतजय

स्थूल-स्वरूप सूक्ष्म-अन्वय-अर्थवत्त्व-संयमाद् भूतजयः (३।४४)

इस पातञ्जल योगसूत्र में अणिमा-आदि सिद्धियों के पूर्वरूप भूतजय का सूत्रात्मक संक्षिप्त वर्णन हमें परिज्ञात होता है। घटपटादि नामरूपात्मक वस्तु को स्थूल कहते हैं। उक्त वस्तुओं के मूल उपादान मृत्तिका, कपास आदि को स्वरूप कहते हैं। गन्ध, रूप, स्पर्श आदि तन्मात्रिक गुणों को सूक्ष्म कहते हैं। प्रकाश, प्रवृत्ति तथा स्थिति (सत्त्व, रज, तथा, तम) इन तीनों गुणों को अन्वय कहते हैं। ये सभी भौतिक पदार्थों में अन्वित (स्थित) होते हैं। निर्लिप्त आत्मा का भोगापवर्गसाधनरूप लीलाविलास को अर्थवत्त्व कहते हैं। तात्पर्य, इस जड संसार की (सृष्टि की) रचना प्रकृतिने स्वतः के लिए नहीं, अपितु जीवों के उपभोग के लिए की

है और यही पञ्चमहाभूतों का अर्थवत्त्व है। उक्त पांच भावों में संयम (विवेक) करने से ही पञ्चमहाभूत, साधक योगी के अधीन होते हैं तथा इसीको भूतजय कहा जाता है। इस भूतजय में अर्थात् भूतों के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से साधक के मन में स्थित पञ्चमहाभूतविषयक आसक्ति, विरक्ति आदि भाव नष्ट हो जाते हैं। योगी को सम्पूर्ण जगत् स्वप्न के समान प्रतीत होता है। अतः वह इस विश्व की उन्नति अथवा अवनति की स्थिति में विचलित अर्थात् प्रसन्न अथवा क्षुब्ध न होकर स्थितप्रज्ञ एवं स्थिर होता है। साधक योगी प्रथमतः पञ्चमहाभूतों के बाह्य रूपों पर तथा पश्चात् उनके आभ्यन्तर रूपों पर जय प्राप्त करता है और तभी वह वास्तविक भूतजयी योगी होता है।

अष्ट सिद्धियां

ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च। (३।४५)

इस पातञ्जल योग सूत्र के अनुसार भूतजय होने के पश्चात् अणिमा-आदि सिद्धियों का (विभूतियों का) प्रादुर्भाव होता है, कायसम्पत्ति प्राप्त होती है तथा उससे धर्म का अभिघात (अतिक्रमण) नहीं होता है। अष्टसिद्धियां निम्नलिखित हैं। (१) अणिमा, (२) महिमा, (३) गरिमा, (४) लघिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशित्व तथा (८) वशित्व।

१. अणिमासिद्धि

सिद्धि-सम्पन्न योगी इच्छा मात्र से अपने पाञ्चभौतिक शरीर को अणु से भी सूक्ष्म करता है तथा स्थूल बाह्य दृष्टि को सर्वथा अदृष्ट अर्थात् अदृश्य होता है। परिणाम स्वरूप किसी भी स्थूल परिधि में न रह कर स्वच्छन्द गमन करता है। यह अणिमा सिद्धि का प्रभाव होता है।

२. महिमा सिद्धि

इस सिद्धि से योगी इच्छा करते ही अपने शरीर को स्वेच्छा तथा आवश्यकता के अनुसार विशालतम करता है। इस सिद्धि के द्वारा योगी का स्थूल शरीर महत्तम होकर दिक्-काल से अवच्छिन्न नहीं होता है तथा विभु अर्थात् सर्व व्यापक हो जाता है।

३. गरिमा सिद्धि

इस सिद्धि से योगी इच्छा मात्र से स्वतः के शरीर को गुरुतम

(भारी से भारी) कर लेता है। फिर इसको कोई भी प्रचण्ड शक्ति हिला नहीं सकती तथा इसका पार्थिव देह पर्वत के समान अडिग रहता है।

४. लघिमा सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा योगी अपने स्थूल शरीर को इच्छामात्र से लघुतम (अत्यन्त हलका) कर सकता है तथा आकाश-अवकाश में स्वच्छन्दतया परिभ्रमण भी कर सकता है।

५. प्राप्ति सिद्धि

भूतजयी सिद्ध इस सिद्धि के द्वारा इच्छा करते ही सप्तलोक, सप्ततल, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, आकाशगंगा आदि में भी पहुंच सकता है।

६. प्राकाम्य सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा भूतजयी सिद्ध पुरुष स्वेच्छा मात्र से अभीप्सित-मनोवांछित वस्तु को तत्काल प्राप्त करता है। संसार में ऐसी कोई भी वस्तु उसके लिए अप्राप्य नहीं होती, जो उसके इच्छा करने पर उसके सम्मुख उपस्थित न हो सके।

७. ईशित्व सिद्धि

इस सिद्धि के चत्मकार से योगी साधक समस्त भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय को कर सकता है। नयी सृष्टि को करने की क्षमता रखता है।

८. वशित्वसिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा योगी भूतजयी साधक के वश में पञ्चमहाभूत, भौतिक समस्त पदार्थ, सम्पूर्ण उद्‌भिद्-प्राणी तथा मानव रहते हैं तथा उसके वंशवद होते हैं अर्थात् उसकी इच्छा के अनुकूल आचरण करते हैं। किन्तु उक्त योगी किसी के भी वश में कभी भी नहीं होता।

पञ्चमहाभूतों के पञ्च स्वभाव स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व इनमें से केवल स्थूल स्वभाव में संयम करने से अणिमा, महिमा, गरिमा तथा लघिमा ये चार सिद्धियां (विभूतियां) साधक योगी को प्राप्त होती हैं। स्वरूप में संयम करने से प्राप्ति सिद्धि प्राप्त होती है तथा

सूक्ष्म में संयम करने से प्राकाम्यसिद्धि प्राप्त होती है। अन्वय में संयम करने से ईशित्वसिद्धि तथा अर्थवत्त्व में संयम करने से वशित्वसिद्धि प्राप्त होती है।

परासिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करने की इच्छा से साधनारत योगी उक्त अष्टसिद्धियों तथा एतदतिरिक्त भी अपरासिद्धियों के प्रलोभन से कदाऽपि अनुप्रेरित नहीं होता है। इन सिद्धियों एवं विभूतियों को क्षुद्र समझकर तथा साधना के प्रधान उद्देश्य असम्प्रज्ञात समाधि मूलक सद्यो-मुक्ति (कैवल्य) की प्राप्ति में प्रतिबन्धक मानकर वास्तविक साधक योगी इन सिद्धियों के गोरख धन्धे में पड़कर पथभ्रष्ट तथा कर्तव्यच्युत होना नहीं चाहता।

प्रागुक्त सिद्धियों के अतिरिक्त कतिपय सिद्धियाँ, जो सम्प्रज्ञात अर्थात् सबीज समाधि-अवस्था में प्रादुर्भूत होकर साधक योगी को प्राप्त होती हैं, अपरा सिद्धियां कहलाती हैं। इनमें से प्रमुख सिद्धियाँ निम्न-लिखित हैं।

१. त्रिकालज्ञता-सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा भूत, वर्तमान तथा भविष्य कालिक समस्त घटनाओं का ज्ञान होता है।

२. भाषा ज्ञान-सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा समस्त प्राणियों की अर्थात् कीट, पतंग, जलचर, सरीसृप, पशुपक्षी, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व आदि की सभी भाषाओं को समझने की शक्ति प्राप्त होती है।

३. पूर्व-पर जन्म ज्ञान-सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा प्राणिमात्र के पूर्वजन्म तथा उत्तरजन्म का यथार्थ ज्ञान साधक को प्राप्त होता है।

४. परविचार ज्ञान-सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा अन्य किसी मनुष्य अथवा प्राणी के मन के विचारों को साधक अवगत करता है।

५. अन्तर्धानसिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा साधक योगी स्वतः के पाञ्च भौतिक शरीर को पञ्चमहाभूतों के विशेष गुणों के साथ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के साथ इच्छा मात्र से अदृश्य होने की शक्ति को प्राप्त करता है।

६. मृत्युविषयक पूर्वज्ञान-सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा साधक स्वतः के निर्वाण के समय को पहले से ह ज्ञात कर लेता है।

७. मनोबलसिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा साधक योगी का मनोबल तथा इच्छाशक्ति तीव्र होकर वह जो चाहता है, वहीं होता है।

८. शरीरबल सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा साधक योगी आवश्यकता के अनुसार अपने शारीरिक बल को न्यून अथवा अधिक करता है।

९. सूक्ष्मतम वस्तुदर्शन सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा साधक योगी सूक्ष्मतम पदार्थों को, अणु-परमाणुओं को भली-भाँति देख सकता है।

१०. दूरतम वस्तुदर्शन सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा साधक अधिकतम दूरस्थ वस्तुओं को स्पष्टतया देख पाता है।

११. सूक्ष्म एवं दूर ध्वनि श्रवणसिद्धि

इस सिद्धि से योगी साधक सूक्ष्मतम ध्वनियों को तथा दूरतम ध्वनियों को स्पष्टरूप से सुनता है।

१२. भूगर्भ तथा जलगर्भस्थ वस्तु ज्ञान सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा भूगर्भ के तथा जल गर्भ के अन्तर्गत सभी वस्तुओं को साधक योगी ज्ञात करता है।

१३. लोक-पाताल-दर्शन-सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, जनलोक, तपलोक

तथा सत्यलोक का एवं सप्त पातालों का दर्शन करने में योगी समर्थ होता है।

१४. नक्षत्र-ग्रह-ज्ञानसिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा नक्षत्रमण्डल, ग्रह, तारा, ब्रह्माण्डीय घटना आदि का योगी को प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

१५. परकायाप्रवेश सिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा साधक योगी स्वेच्छा से अपने पाञ्चभौतिक शरीर को सुरक्षित रखकर अपनी आत्मा को अन्य व्यक्ति के (मृत या जीवित) शरीर में प्रविष्ट कराता है।

१६. इच्छामृत्युसिद्धि

इस सिद्धि के द्वारा योगी अपनी आयु को इच्छा के अनुसार बढा सकता है तथा स्वेच्छापूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर सकता है।

योगदर्शन के प्रमाणग्रन्थ

योग दर्शन के सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए स्वतःप्रमाण, सर्वमान्य मूल-आकर ग्रन्थ पतञ्जलिमुनिप्रणीत योगसूत्र है। इतिहास-विशेषज्ञों के अभिमत के अनुसार इन सूत्रों का प्रणयन-समय विक्रमपूर्वीय तीन सहस्र वर्षों से भी अधिक माना जाता है। इस योग सूत्र में समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद इस प्रकार चार पाद हैं तथा इन चारों पादों में मिलाकर एक सौ पञ्चानबे सूत्र हैं। इनके प्रामाणिक भाष्य, वार्तिक, वृत्ति तथा टीकाएं निम्नलिखित हैं।

व्यासभाष्य—वेदब्यास
योगवार्तिक – विज्ञानभिक्षु
तत्त्ववैशारदी—वाचस्पतिमिश्र
(व्यासभाष्य व्याख्या)
राजमार्तण्ड़—भोजदेव
योगसूत्रवृत्ति – नागेशभट्ट
योगसूत्रवृत्ति—भावागणेश
योगचन्द्रिका—आनन्द पण्डित
योगसूत्रवृत्ति—उदयशंकर

नवयोगकल्लोलवृत्ति—क्षेमानन्ददीक्षित
गूढार्थ दीपिका—नारायणभट्ट
योगसूत्रवृत्ति—ज्ञानानन्द
अभिनवभाष्यं
योगसूत्रटिप्पणी } भवदेव
योगसूत्रवृत्ति—महादेवभट्ट
मणिप्रभा—रामानन्दाचार्य
योगसूत्रभाष्य—रामानुजाचार्य
योगसूत्रवृत्ति—वृन्दावन शुक्ल
योगसूत्रवृत्ति—शिवशंकर
योगसूत्रवृत्ति—सदाशिव
पातञ्जलरहस्य—राघवानन्द
पातञ्जलरहस्यप्रकाश—राधानन्द
योगसूत्रवृत्ति—उमापतिमिश्र
योगसूत्रवैदिकवृत्ति—स्वामो हरिप्रसाद इत्यादि।

•

योग साधना

वर्तमान समय में भारतवर्ष में योग साधना की दृष्टि से अनुकूल वातावरण, प्राकृतिक सुविधाएं तथा स्वस्थ परिसर नगरों में तथा ग्रामीण अंचलों में भी सम्भवतः समुपलब्ध नहीं हैं। इस दृष्टि से हिमालय की पार्वत्य उपत्यकाएं, कन्दराएं, गिरिगह्वर तथा गुफाएं ही सर्वथा अनुकूल रही हैं। यहां पर, चिन्ताएं, विवंचनाएं, शठता, कपट-पूर्णव्यवहार, अनाचार, भ्रष्टाचार आदि दोषों के न होने के कारण तथा यहां का वातावरण विशुद्ध एवं परिसर प्रशान्त होने के कारण भी योग साधना के लिए नितान्त आवश्यक मानसिक शान्ति, शुद्ध वायुमंडल, सदाचरण प्रवृत्ति, सात्त्विक आचार, ध्येय के प्रति नितान्त निष्ठा-सद्भाव आदि के लिए पूर्ण अनुकूलता होती है। अतएव वर्तमान समय में भी वास्तविक सिद्ध एवं पूर्ण योगी अल्प संख्या में उत्तराखण्ड में ही विशेषतया दर्शनीय होते हैं।

इसके विपरीत सम्प्रति भारतीय ग्रामों एवं नगरों की स्थिति है। कलिप्रभावमूलक जनसंख्यावृद्धि के कारण उत्पन्न एवं वृद्धिगत हो रहे अन्नप्रदूषण, जलप्रदूषण, वायुप्रदूषण, ध्वनिप्रदूषण आदि के द्वारा सामान्य जनता का शारीरिक स्वास्थ्य तथा चिन्ता, विवञ्चना, असद्विचार, अनाचार, अनैतिकता, कामलोलुपता, अर्थलोभातिरेक आदि जनित मनः प्रदूषण के द्वारा मानसिक शान्ति सुरक्षित नहीं है। ऐसी स्थिति में योग-साधना किसी भी श्रेणी के व्यक्ति के लिए कहां तक संभव हो सकती है यह विचारणीय विषय है। योग साधना के प्राथमिक सोपान यम तथा नियम की पूर्ण सिद्धि के विना आसन एवं प्राणायाम कदाऽपि सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा लोभ-रहित असंग्रह (अपरिग्रह) एवं नियम अर्थात् शरीर तथा मन की शुचिता, संतोष, त्याग-तप, मनन-चिन्तन, तथा ईशभक्ति इनका निष्ठापूर्वक पालन सम्प्रति सम्भवनीय न होने के कारण योग साधना करने वाले व्यक्ति की शारीरिक एवं विशेषतया मानसिक भूमिका, अग्रिम आसन तथा प्राणा-

याम के सोपान के लिए उपयुक्त एवं सहायक रूप में बनती ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि 'योगा' के नाम पर आसनों का अभ्यास होता है तो उसका स्वरूप शारीरिक व्यायाम मात्र ही होगा तथा उसका यौगिक प्रभाव पाञ्चभौतिक शरीर के अन्तर्गत पञ्चमहाकोषों पर, लिंग शरीर पर तथा परम्परया मनस्तत्त्व पर नहीं के बराबर पड़ेगा। परिणामतः साधक का वास्तविक शरीर-संयमन न हो सकेगा। शरीर-संयमन के विना प्राण-संयमन तथा प्राण-संयमन के विना सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयमन भी सम्भव नहीं होता। इन्द्रियों के संयमन से मनः-संयमन होकर अन्त में समाधि सिद्धि प्राप्त होती है। तात्पर्य योगसाधना की पूर्ति एवं सफलता के लिए उक्त अष्टाङ्गों के सोपान मार्ग से ही आरोहण करना अनिवार्य होता है। तथा कथित 'योग' के अन्तर्गत कतिपय आसनों से व्याधिनाश होकर भौतिक दृष्टि से शरीर स्वस्थ हो सकता है, किन्तु पञ्चप्राणों का संयम, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों की शुद्धि, सूर्य एवं चन्द्र स्वर में पञ्चतत्त्वों का सन्तुलन आदि के लिए उक्त तथाकथित 'योग' व्यर्थ होकर यम-नियम सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा परिसाधित शुद्ध पद्मासन अथवा सिद्धासन ही पर्याप्त होता है।

सारांश यह है कि वर्तमान कालिक विषम परिस्थिति, सर्वथा प्रदुष्ट वातावरण तथा विपरीत परिवेश के होते हुए भी यदि कोई जिज्ञासु एवं राजयोग की साधना के पथ पर अग्रेसर होने को इच्छुक व्यक्ति उचित साधना का अभ्यास करना चाहता है, तो उसे यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम, योगदर्शन के मर्मज्ञ, मनीषी विद्वान् गुरु के समीप योग-दर्शन के मूल-उपजीव्य ग्रन्थों का तथा आकर ग्रन्थों का अध्ययन कर उसके समस्त सिद्धान्तों को, रहस्यों को तथा मर्म-सन्दर्भों को पूर्णतया अवगत करे। योग दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन एवं मनन करने के पश्चात् योगसिद्ध, योगवित्तम सद्गुरु के तत्त्वावधान में उसके निर्देश के अनुसार योग की अष्टाङ्ग साधना का प्रारम्भ करना चाहिए। यह साधना अतीत समय में भी अत्यन्त कष्ट साध्य थी। वर्तमान समय में तो तलवार की धार पर चलने के समान असाध्य कोटि की प्रतीतहोती है।

●

आसनों का क्रियान्वयन एवं लाभ

राजयोग के अष्ट अङ्गों के वर्णनप्रसंग में आसनों के सामान्य सैद्धान्तिक विवरण को प्रस्तुत किया जा चुका है। सम्प्रति कतिपय प्रमुख आसनों की क्रियान्वयनपद्धति का तथा तज्जनित लाभों का वर्णन करना प्रासंगिक प्रतीत होता है।

कुर्यात्तदासनं स्थैर्यं आरोग्यं चाङ्गलाघवम्।

इस हठयोगप्रदीपिका की उक्ति के अनुसार उन आसनों का अभ्यास करना लाभप्रद होता है, जिनसे शरीर की स्थिरता, आरोग्य तथा लघुता प्राप्त होती है। तात्पर्य आसनों के अभ्यास से साधक को स्नायुमण्डल की मृदुता, सहनशीलता, मानसिक एकाग्रता, शारीरिक लघुता, रोगनिवृत्ति, आरोग्यलाभ तथा प्राणतत्त्व की स्थिरता सम्पन्न होती है। आसनों के अभ्यास का यह लाभ उन साधकों को विशेष रूप से होता है, जिनका जीवन संयमित एवं नियमित होता है। असंयमी, अजितेन्द्रिय तथा स्वैर आहार-विहार करने वाले पुरुष अथवा महिला को रोगनिवृत्तिकारक तथा स्वास्थ वर्धक सामान्य व्यायामात्मक आसनों के अभ्यास से भी अपेक्षाकृत न्यून ही लाभ होता है।

अष्टाङ्ग यौगिक साधना के लिए नितान्त समपेक्षित सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन तथा सिंहासन ये चार आसन प्रमुखतम माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त वे आसन, जिनसे रोगनिवृत्ति, मलशुद्धि तथा स्वास्थ्यप्राप्ति होती है, गौण माने जाते हैं। यें सभी आसन एकान्त, पवित्र एवं शान्त स्थान में करने चाहिए। इनके अभ्यास के लिए समतल तथा मृदु स्थान अपेक्षित होता है। शुद्ध जलवायु से युक्त निसर्गरमणीय तथा कीटपतंग-पशुपक्षियों से विरहित स्थान आसनों के अभ्यास के लिए विशेष रूप से स्पृहणीय होता है। प्रस्तुत में कतिपय आसनों की क्रिया एवं तज्जन्य लाभ के संक्षिप्त विवरण को उपस्थापित किया जाता है।

(१) सिद्धासन

इस आसन को करते समय, गुदस्थान एवं जननेन्द्रिय के मध्य भाग में वामपाद की एडी को सटाये तथा दक्षिग पाद की एडी को जननेन्द्रिय पर रक्खे। दोनों पैरों के अग्रभाग को जानु एवम् ऊरुके मध्य स्थापित करते हुए दोनों हथेलियों को उत्तानस्थिति में दोनों जानुओं पर रक्खे तथा दोनों तर्जनियों को दोनों अंगुष्ठों के मूल में लगावें। ऐसा करने से सिद्धासन सम्पन्न होता है। कुछ साधक इस आसन को करते समय मूल-बन्ध, जालन्धरबन्ध तथा त्राटक की क्रिया को भी करते हैं।

इस आसन से नाडियों की शुद्धि होती हैं, प्राण-अपान की गति नियमित होती है तथा मनोवृत्तियों पर नियन्त्रण होता है। इसके अति-रिक्त फुफ्फुस एवं हृदय को इस आसन से बल प्राप्त होता है। पाचन क्रिया, अन्त्र क्रिया नियमित होती है। हृद्‌रोग, प्लीहावृद्धि, ज्वर, अजीर्ण, अतिसार, पेचिश, धातुदौर्बल्य, स्वप्नदोष, बहुमूत्र, मूत्रकृच्छ्र आदि रोग इस आसन के अभ्यास से दूर होते हैं। इस आसन से लिंग की शिराएं दबकर निर्बल होने के कारण इस आसन का अभ्यास विवाहितों को न करना श्रेयस्कर है।

(२) गुप्तासन

कटिवात, भगन्दर, वृषणदोष आदि के कारण जो व्यक्ति सिद्धासन नहीं कर सकता, उसके लिए गुप्तासन करना सुलभ होता है। इस आसन को करते समय जननेन्द्रिय के ऊपर वामपाद के गुल्फ को तथा उसपर दक्षिण पाद के गुल्फ को रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त सभी शारीरिक स्थितियाँ एवं क्रियाएँ, सिद्धासन में जिस प्रकार होती है, उसी प्रकार करनी चाहिए। इस आसन में उड्डीयान बन्ध सुलभ होता है। सिद्धासन के अभ्यास से होने वाले सभी लाभ इस आसन के अभ्यास से होते हैं।

(३) मुक्तासन

इस आसन को करते समय दक्षिण एवं वाम पाद की एडियों को मिलाकर गुद तथा वृषण (अण्डकोष) के मध्य रखना चाहिए। हथेलियाँ दोनों जानुओं पर होनी चाहिए तथा जालन्धर बन्ध भी करना

चाहिए। दृष्टि नसिकाग्र होनी चाहिए। इस आसन से नाडियाँ मृदु होती हैं तथा मूलबन्ध करने में सुविधा होती है।

(४) भद्रासन

इस आसन को करते समय जननेद्रिय के नीचे दक्षिण पाद की एडी दक्षिण भाग में तथा वाम पाद की एडी वाम भाग में रखनी चाहिए। मुक्तासन में पैरों का अग्रभाग आगे की ओर रहता है, किन्तु इस आसन में पैरों का अग्रभाग पीछे की ओर मुडा रहता है। इस आसन को गोरक्षासन भी कहते हैं। दोनों हाथों से पृष्ठ की ओर निकले हुए पादों के अंगुलियों को पकड़ना चाहिए तथा दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर होनी चाहिए। इस आसन से पांव के स्नायु मृदु होते हैं, मलावरोध तथा वातरोग दूर होते हैं। कफ, आम एवं मेदवृद्धि को यह आसन नष्ट करता है। इस आसन से मूलबन्ध सहजतया सिद्ध होता है तथा अपान वायु ऊर्ध्वगामी होता है।

(५) सिंहासन

इसको करते समय गुद एवं जननेद्रिय के मध्य स्थान में दक्षिण की ओर वाम पाद के गुल्फ को तथा उसके ऊपर वाम पार्श्व में दक्षिण पाद के गुल्फ को रखना चाहिए। दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाकर दोनों घुटनों पर रखना चाहिए तथा मुख खुला रखकर जीभ को बाहर निकालना चाहिए। इसमें दृष्टि नासिकाग्र होनी आवश्यक होती है। इस आसन के अभ्यास से मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध तथा उड्डीयानबन्ध सिद्ध होते हैं। इससे ज्ञान तन्तु बलवान् होते हैं तथा अपचन, बद्ध कोष्ठ, अन्त्र रोग आदि दूर होते हैं।

(६) स्वस्तिकासन

इस आसन को करते समय दोनों जानुओं तथा जंघाओं के मध्य दोनों पादतलों को स्थापित कर स्थिर बैठना चाहिए। इसमें वाम पाद को नीचे तथा दक्षिण पाद को ऊपर रखना चाहिए। सामान्यशक्ति का व्यक्ति भी इस आसन के अभ्यास से मनः शान्ति को तथा प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

(७) पद्मासन

इस आसन को करते समय पहले दक्षिण जंघा पर वाम पाद को रखना चाहिए तथा पश्चात् वाम जंघा पर दक्षिण पाद को रखना चाहिए। अथवा पहले वाम जंघा पर दक्षिण पाद को तथा पश्चात् दक्षिण जंघा पर वाम पाद को रखना चाहिए। दोनों पाद की एडियों को नाभि के दोनों पार्श्वों से मिलाना चाहिए तथा दोनों जानु भूमि से स्पृष्ट होने चाहिए। पृष्ठ भाग में दक्षिण हस्त से दक्षिण पाद के अंगुष्ठ को तथा वाम हस्त से वाम पाद के अंगुष्ठ को पकड़ना चाहिए। इस आसन में जालन्धर बन्ध के साथ दृष्टि नासिकाग्र होनी आवश्यक हैं। इस आसन के अभ्यास के साथ जिह्वा के अग्र को उलटकर जिह्वा के मूल में ले-जाने से खेचरीमुद्रा बनती है और इस मुद्रा में ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित अमृत बिन्दु का पान कर साधक अमरत्व को प्राप्त करता है। इस आसन से कुण्डलिनी शक्ति भी जागृत होती है। पद्मासन से श्वास-प्रश्वास-क्रिया नियमित होती है। अतः प्राणायाम सिद्धि के लिए यह आसन अन्य आसनों की तुलनामें श्रेष्ठतर होता है। इसके अभ्यास से हृदय एवं फुफ्फुस बलवान् होते हैं तथा उदररोग, मलावरोध, चर्मरोग, रक्तविकार, गृध्रसी, श्वास-कास, जीर्णज्वर, यकृतविकार, कटिवात, आमवात, प्लीहाविकार आदि रोग नष्ट होते हैं।

(८) कुक्कुटासन

इस आसन को करते समय पद्मासन में दोनों हाथों को जानुओं तथा जंघाओं के मध्य से नीचे उतार कर भूमिपर रखना चाहिए तथा दोनों हथेलियों के आधार पर पद्मासन में स्थित शरीर को ऊपर उठाना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से अपान वायु शुद्ध होकर उदरविकार, बद्धकोष्ठ तथा स्वप्नदोष दूर होते हैं। लघु अन्त्र तथा बृहद् अन्त्र कार्य-क्षम होते हैं एवं भुजा के स्नायु बलवान् होते हैं। सुषुम्ना का मुख खुलता है तथा अपानतत्त्व उर्ध्वगामी होता है।

(९) पश्चिमोत्तानासन

इस आसन को करते समय दोनों पैर सामने की ओर फैलाकर दोनों एडियों को मिलाना चाहिए तथा दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़ कर

ललाट को घुटनों का स्पर्श कराना चाहिए। इस समय दोन घुटनें जमीन से उठने नहीं चाहिए। इस आसन के अभ्यास से स्नायुमण्डल निर्मल होता है। जठराग्नि प्रदीप्त होकर अजीर्ण, मन्दाग्नि, बद्धकोष्ठ, वायुविकार आदि पेट के सभी रोग प्रशमित होते हैं। सर्दी, कफ, आमविकार, मेद आदि भी दूर होते हैं। इस आसन के अभ्यास से सुषुम्ना नाडी में से प्राणतत्त्व मस्तिष्क में पृष्ठ भाग से प्रविष्ट होता है। इसी को पश्चिममार्ग-गति कहा जाता है। इसके विपरीत सिद्धासन, पद्मासन आदि में सुषुम्ना के मार्ग से प्राणतत्त्व ऊर्ध्वगति होकर भ्रूमध्य से होते हुए सहस्रदल पद्म में प्रविष्ट होता है और इसे पूर्वमार्गगति कहते हैं।

(१०) मयूरासन

इस आसन को करते समय दोनों हाथों के तलुओं को एक साथ जमीन पर रखकर दोनों कूर्परों (केहुनियों) को नाभि के पास लगाना चाहिए तथा उनपर दण्ड के समान शरीर क तिर्यक् स्थिति में धारण करना चाहिए। अन्य सामान्य आसनों के अभ्यास के द्वारा स्नायुमण्डल मृदु होने के पश्चात् ही इस आसन का अभ्यास लाभप्रद होता है। अन्यथा इसके अभ्यास से उदरशूल एवम् अन्त्रशोथ होने की सम्भावना होती है। स्नायुमार्दव की स्थिति में इस आसन के अभ्यास से उदर-विकार, मन्दाग्नि, बद्धकोष्ठ, कटिवात, कफ-कास-श्वास आदि रोग नष्ट होते हैं। पञ्चक्रियाओं में अन्यतम वस्ति क्रिया में इस आसन के अभ्यास से सहायता मिलती है।

(११) शीर्षासन

इस आसन को करते समय जमीन पर गोल लपेटे हुए मुलायम वस्त्र को रखकर उस पर मस्तक को रखना चाहिए तथा दोनों हाथों को मस्तक के दोनों ओर लगाकर शरीर को उलटा ऊपर उठाकर खड़ा करना चाहिए। इस आसन में मस्तक नीचे तथा पैर ऊपर होने के कारण रक्त का संचार पैर से मस्तक की ओर बढ़ता है। प्रारम्भ में इस आसन का अभ्यास दो मिनट से अधिक नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति समधातु, सम-अग्नि तथा समबल हो, उसे ही इस आसन को एक घण्टे तक करना चाहिए। उच्च रक्त चाप के रोगी को को इस आसन को कदाऽपि नहीं करना चाहिए। इस आसन में रक्त-प्रवाह पैर से मस्तक की ओर विपरीत

होता है, अतः इसके तत्काल पश्चात् पैर पर खडा न होकर साधक को शवासन करना श्रेयस्कर होता है। इससे रक्तप्रवाह समगति हो जाता है। रुधिराभिसरण अच्छी प्रकार से होता है। सुषुम्ना के द्वारा प्राणतत्त्व मूलाधार आदि षट्चक्रों में प्रविष्ट होने को उद्यत होता है। इस आसन के सतत अभ्यास से त्रिदोषों (वात-पित्त-कफ) की विषमता से उत्पन्न सभी रोग दूर होते हैं। ज्वर, खांसी, दमा, उदररोग, कटिशूल, ऊरुस्तम्भ, वृषणवृद्धि, अन्त्रवृद्धि, कामला, भगन्दर, कुष्ठ, श्वेतकुष्ठ, प्रमेह ध्वजभंग, धातुदौर्बल्य आदि रोग भी इसके अभ्यास से दूर हो जाते हैं। शीर्षासन के अभ्यास करनेवाले साधक को प्रतिदिन शुद्ध गोघृत तथा दुग्ध का सेवन करना आवश्यक होता है। अन्यथा इसके अभ्यास का परिणाम हानिकारक होता है। हृदयरोग, उच्चरक्तचाप, श्वासरोग, क्षय, उन्माद, अपस्मार अनिद्रा आदि के रोगियों को शीर्षासन हानिकारक होता है। इसका अभ्यास स्नान के पश्चात् तथा भोजन के पूर्व प्रभात समय में ही करना चाहिए।

(१२) मत्स्येन्द्रासन

इस आसन को करते समय वाम जंघा के मूल में दक्षिण पाद को रखना चाहिए तथा दक्षिण एडी को नाभिस्थान में लगाना चाहिए। पैर का अग्रभाग जंघा पर रखकर पीठ पीछे से वाम हस्त से वामपाद के अग्रभाग को पकडना चाहिए। इस पकड़ में अंगूठा जानु की ओर तथा कनिष्ठिका एडी की ओर रहनी चाहिए। पश्चात् वाम पाद को दक्षिण जानु से आगे बाहर निकालकर तथा वाम पाद का घुटना हृदय के समीप खड़ा होकर वाम पाद के तलुअे का अग्रभाग दक्षिण जानु के नीचे लगाना चाहिए। साधक का मुख इस समय दाहिनी ओर घुमा हुआ होना चाहिए तथा दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर होनी चाहिए। यह आसन वाम-दक्षिण भेद से एक दूसरे के विपरीत भी किया जाता है। वाम मत्स्येन्द्रासन तथा दक्षिण मत्स्येन्द्रासन दोनों ही आसनों का अभ्यास साधक को करना लाभप्रद होता है। इन दोनों प्रकार के मत्स्येन्द्रासन के सतत अभ्यास से नाडियों का सम्पूर्ण मल नष्ट होता है। अन्य आसनों से स्नायुमण्डल मृदु होने के पश्चात् ही इस आसन का अभ्यास करना चाहिए। इससे त्रिधातु की विषमता से उत्पन्न सभी व्याधियाँ नष्ट होती हैं। इसके

अभ्यास से समुद्रनाद का श्रवण होकर मन एकाग्र एवं स्थिर हो जाता है। इससे बिना प्राणायाम के ही कुण्डलिनी शक्ति स्फुरित होती है। इस आसन से औदर्य अग्नि प्रदीप्त होता है, ज्ञानतन्तु बलशाली होते हैं तथा सभी उदररोग श्वासरोग एवं वातरोग नष्ट होते हैं। इससे रसरक्तादि सप्तधातु भी शुद्ध होते हैं।

(१३) शवासन

इस आसन को करते समय साधक को भूमि पर शव के समान चित लेटना चाहिए। दोनों पैरों को पूर्णरूप से फैलाकर उनके अग्रभागों को मिलाना चाहिए तथा अंगुलियां ऊपर की ओर खड़ी होनी चाहिए। दोनों हाथों को शरीर के दोनों ओर समान्तर सीधा फैलाना चाहिए। इस स्थिति में शरीर के सम्पूर्ण अंग शिथिल रखने चाहिए। यौगिक साधना आसन, प्राणायाम आदि में साधक के श्रान्त होने पर क्लान्ति परिहार के लिए तथा नाड़ियों के क्षोभ को शान्त करने हेतु इस आसन का उपयोग करना आवश्यक होता है। योगसाधना के पश्चात् श्रम-परिहार के लिए प्रतिदिन साधक को तीस मिनट तक शवासन करना श्रेयस्कर है। इस आसन की स्थिति में रक्त का संचालन नैसर्गिक रूप में होकर सुषुम्ना के द्वारा प्राणतत्त्व मस्तिष्क की ओर गतिशील होता है तथा एतत्फल स्वरूप मन को शान्ति एवं सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

(१४) सम-आसन

इस आसन को करते समय वाम पाद की एड़ी जननेन्द्रिय पर (जंघास्थि पर) रखनी चाहिए तथा दक्षिण पाद की एड़ी को वाम पाद की एड़ी पर इस प्रकार रखनी चाहिए कि वाम पाद की अंगुलियां दक्षिण पाद की पिंडली तथा जंघा के मध्य आजाएँ। उसी प्रकार दक्षिण पाद की अंगुलियां वाम पाद की पिंडली तथा जंघा के मध्य आनी चाहिए। दोनों हाथों की हथेलियों को घुटनों पर सीधा रखकर अंगुष्ठ तथा तर्जनी को मिलाकर ज्ञानमुद्रा करनी चाहिए तथा दृष्टि नासिकाग्र अथवा भ्रूमध्य में स्थिर होनी चाहिए। इस आसन से नाड़ी-मण्डल मृदु होता है तथा प्राणतत्त्व सुषुम्ना के द्वारा ऊर्ध्वगामी होता है। इस आसन के अभ्यास से उदर सम्बद्ध रोग दूर होकर अपान वायु शुद्ध होता है।

(१५) वज्रासन

इस आसन को करते समय दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर नितम्ब के दोनों ओर ऊपर एड़ीयों को किये हुए रखना चाहिए तथा दोनों हथेलियों को पटरूप में घुटनों पर रखना चाहिए। इस क्रिया को करते समय आखें वन्द करनी चाहिए। इस आसन के अभ्यास से मूलबन्ध सिद्ध होता है तथा कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

(१६) सुप्तवज्रासन

इस आसन को करते समय, उपर्युक्त पद्धति से किये हुए वज्रासन के पश्चात् उसी अवस्था में चित लेटना चाहिए तथा दोनों हाथों को कोहनियों में मोड़कर दोनों हथेलियों को मस्तक के नीचे रखना चाहिए। इसके पश्चात् दोनों हथेलियों को कन्धों के नीचे रखना चाहिए। इससे साधक का प्राण तत्त्व सुषुम्ना के द्वारा तिर्यक्गति से आज्ञाचक्र में प्रविष्ट होकर बुद्धि की वृद्धि होती है।

(१७) सर्वाङ्गासन

इस आसन को करते समय सर्वप्रथम साधक को चित लेटना चाहिए तथा हाथों को शरीर के दोनों ओर लम्बा रखना चाहिए। इसके पश्चात् दोनों पैरों को सटाकर धीरे धीरे ऊपर उठाना चाहिए। धरातल से नब्बे अंश का कोण बनने पर कोहनियों के सहारे दोनों हथेलियों को पीठ के मध्य भाग में सटाकर मस्तक के अतिरिक्त सम्पूर्ण शरीर को एक सूत्र में उठाकर खड़ा करना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से रक्तसंचालन पैरों से ग्रीवा, कण्ठ तथा मस्तक तक होता है। इससे अपानतत्त्व प्राण-तत्त्व के साथ संयुक्त होकर सुषुम्ना के द्वारा अनाहत एवं विशुद्धि चक्रों की ओर आकृष्ट होता है। इस आसन के सतत अभ्यास से हृद्रोग, उदररोग, अपस्मार आदि रोग दूर होते हैं।

(१८)विपरीत-आसन (विपरीत करणी)

इस आसन को करते समय, साधक को चित लेटना चाहिए तथा दोनों हाथों को शरीर के दोनों ओर फैलाना चाहिए। उसके पश्चात् दोनों पैरों को सटाकर अस्सी अंश के कोण को बनाते हुए ऊपर उठाना चाहिए। कोहनियों के आधार से हथेलियों का नितम्बों को सहारा देना

चाहिए। इस आसन के अभ्यास से साधक को सर्वाङ्गीण स्वस्थ्य का लाभ होता है। इस आसन को विपरीत करणी भी कहते हैं।

(१९) अर्धमत्स्येन्द्रासन

इस आसन को करते समय दक्षिण पाद की एड़ी को गुद एवं उपस्थ के बीच में सटाना चाहिए। वाम पाद को घुटने में मोड़कर दक्षिण पाद की जंघा के साथ बाहर की ओर खड़ा रखना चाहिए तथा शरीर को बायी ओर घुमाना चाहिए। इसके साथ दक्षिण हस्त को वाम जानु के बाहर से ले जाकर उससे वाम पाद को पकड़ना चाहिए। अब शरीर को बायीं ओर अधिक घुमाना चाहिए तथा मस्तक को भी वाम स्कन्ध तक घुमाना चाहिए। वाम हस्त से पीछे से दक्षिण जंघा को भी पकड़ना चाहिए यह आसन वाम अंग तथा दक्षिण अंग के उलट फेर से दो प्रकार से किया जाता है। अर्धमत्स्येन्द्रासन से मत्स्येन्द्रासन के समान ही साधक को लाभ होता है।

(२०) हलासन

इस आसन को करते समय, पहले साधक को चित लेटकर धीरे-धीरे दोनों पैरों को उठाते हुए मस्तक के पीछे जमीन पर दोनों पैरों की अंगुलियों को लगाना चाहिए। दोनों हाँथ यथास्थान जमीन पर फैले हुए होने चाहिए। यह हलासन की पूर्व स्थिति है। इसके पश्चात् फैले हुए दोनों हाथों को मोड़कर तथा अंगुलिबन्ध कर मस्तक के नीचे लगाना चाहिए। इसमें साधक का शरीर भूमि से कन्धों तक ऊपर उठ जाता है। यह हलासन की उत्तर स्थिति होती है। इससे साधक का स्नायुमण्डल शुद्ध एवं मृदु होता है तथा प्राण शक्ति का प्रवाह तीव्र होता है।

(२१) भुजंगासन

इस आसन को करते समय साधक को पट सोना चाहिए तथा छाती के दोनों ओर भूमि पर दोनों हथेलियों को टेक कर उनके सहारे मस्तक छाती एवं पेट को ऊपर उठाना चाहिए। इससे भुजाओं के स्नायु दृढ़ होते हैं तथा हृदय, फुफ्फुस, स्कन्ध आदि को बल प्राप्त होता है।

(२२) शलभासन

इस आसन को करते समय साधक को पट सोना चाहिए तथा दोनों

हाथ भी शरीर के दोनों ओर फैलाने चाहिए। हनु (ठोडी) को भूमि से सटा कर तथा दोनों हाथों की मुट्ठियों को बांधकर श्वास का पूरण एवं कुम्भन करना चाहिए। इसके पश्चात् शरीर को कड़ाकर तथा भुजाओं पर बल देते हुए दोनों पावों को पीछे से यथा सम्भव ऊपर उठाना चाहिए तथा नीचे लाना चाहिए। इस आसन से जंघा एवं कटि के स्नायु मृदु होते है तथा सन्धिवात, स्नायु शूल (निम्नांग के) आदि रोग दूर होते हैं।

(२३) अर्ध शलभासन

इस आसन को करते समय शलभासन की क्रियाओं के समान ही प्राथमिक क्रियाएँ करनी चाहिए। किन्तु अन्त में दोनों पैर एक साथ पैतालिस अंश का कोण बनाकर न उठाते हुए एक-एक पैर ही बारी बारीसे उक्त अंश का कोण बनाकर उठाना चाहिए तथा नीचे लाना चाहिए।

(२४) धनुरासन

इस आसन को करते समय साधक को पट सोना चाहिए। हनु को भूमि से लगाकर दोनों हाथों को शरीर के साथ फैलाना चाहिए। पश्चात् दोनों पैरों को पीछे से उठाकर हाथों से पकड़ना चाहिए। ऐसा करते समय शरीर का सम्पूर्ण भार पेट पर डालकर छाती तथा जंघाओं को ऊपर उठाना चाहिए। इस आसन से पेट के अर्थात् पक्वाशय के स्नायु मृदु एवं शिथिल होते हैं तथा उदर से सम्बद्ध सभी रोग दूर होते हैं।

(२५) योगमुद्रासन

इस आसन को करते समय प्रथम पद्मासन का पादबन्ध करना चाहिए। पीठ पीछे वाम हस्त से दक्षिण हस्त की कलाई पकड़नी चाहिए तथा शरीर को आगे झुकाकर पेट में एड़ियों को धंसाते हुए मस्तक को भूमि से लगाना चाहिए। इससे प्राणतत्त्व के साथ अपान तत्त्व भी क्षुब्ध होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है तथा कुण्डलिनी शक्ति की जागृति में सहायक होता है।

(२६) मत्स्यासन

इस आसन को करते समय पद्मासन के समान पादबन्ध करना चाहिए। पश्चात् चित लेटना चाहिए तथा मस्तक एवं नितम्ब पर शरीर का सम्पूर्ण भार रखकर पीठ को जमीन से ऊपर उठाकर थोड़ा वक्र करना चाहिए। साथ ही दोनों तर्जनियों से दोनों पादों के अंगुठों को पकड़ना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से मेरुदण्ड से सम्बद्ध शिराएँ मृदु होती है। विशेषतया इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाडियों का मल दूर होता है तथा कुण्डलिनी शक्ति की जागृति में सहायता प्राप्त होती है।

(२७) बद्धासन

इस आसन को करते समय, दोनों पैरों को मिलाकर नितम्ब पर पर बैठना चाहिए। दोनों हाथों को पैरों के नीचे डालकर पैरों के पंजों को नितम्ब के निकट खींच कर सीधे बैठना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से उदर, कटि आदि के स्नायु मल रहित होकर शक्ति को प्राप्त करते हैं।

(२८) वक्र बद्धासन

इस आसन को करते समय प्राथमिक सभी क्रियाएँ बद्धासन के समान ही करनी चाहिए। पश्चात् इसी स्थिति में दक्षिण करवट तथा वाम करवट लेटना चाहिए तथा दोनों जानुओं की दूरी यथा सम्भव बढ़ानी चाहिए। इस आसन के अभ्यास से उदर, कटि तथा ऊरु विकार-रहित होते हैं।

(२९) अर्ध गर्भासन

इस आसन को करते समय पहले पद्मासन करना चाहिए। पश्चात् दोनों हांथों को जंघाओं के नीचे से अधिक से अधिक बाहर निकालना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से पेट के स्नायु बलवान् होकर उदर वायु नष्ट होता है।

(३०)गर्भासन

इस आसन को करते समय पहले अर्ध गर्भासन की ही क्रिया करनी चाहिए। पश्चात् बाहर निकले हुए हाथों से दोनों कानों को पकड़ना

चाहिए। इस आसन के अभ्यास से उदर, ऊरुमूल, यकृत, प्लीहा, हृदय, कटि आदि अंगों के विकार दूर होते हैं।

(३१) बद्ध पद्मासन

इसको करते समय प्रथमतः पद्मासन करना चाहिए। पश्चात् पीठ के पीछे से दक्षिण हस्त से दक्षिण पाद के अंगुष्ठ को तथा वाम हस्त से वाम पाद के अंगुष्ठ को पकड़ना चाहिए। इसके अभ्यास से कटिदोष दूर होते हैं तथा श्वसन क्रिया सरल होकर आयु की वृद्धि होती हैं।

(३२) सोड्डीयान पद्मासन

इसको करते समय पद्मासन लगाना चाहिए। पश्चात् दीर्घ प्रश्वास के साथ पेट खाली होने की स्थिति में पेट को बारंबार बाहर-भीतर करना चाहिए। दम पूरा होने पर श्वास लेकर पुनः प्रश्वास करना चाहिए तथा पुनः पेट को अन्दर-बाहर करना चाहिए। इसी को उड्डीयान बन्ध कहते हैं और इसके साथ पद्मासन करने से पेट की चर्बी झड़ जाती है तथा यकृत, प्लीहा, उदर आदि के रोग दूर होते हैं।

(३३) एक पाद कन्धरासन

इस आसन को करते समय एक पैर सामने भूमि पर घुटनामोड़ कर रखना चाहिए तथा दूसरा पैर कन्धे पर तथा गर्दन पर रखकर दोनों हाथों से पकड़ना चाहिए। इसमें गर्दन पर रक्खा जाने वाला पैर बदल सकता है। इस आसन के अभ्यास से गर्दन, ऊरु, पेट आदि के विकार दूर होते हैं।

(३४) लोलासन

इसको करते समय नितम्ब पर बैठकर दोनों पावों को ऊपर उठा कर सटा लेना चाहिए तथा दोनों हथेलियों को सामने भूमि पर रखकर उनके सहारे सम्पूर्ण शरीर को ऊपर उठाकर तौलना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से दोनों भुजाओं को बल प्राप्त होता है।

(३५) कर्णस्पृष्ट जानु पद्मासन

इस आसन को करते समय सर्वप्रथम पद्मासन करना चाहिए तथा पश्चात् आगे झुककर दक्षिण जानु में दक्षिण एवं वाम कर्ण तथा वाम जानु

में वाम एवं दक्षिण कर्ण का स्पर्श करना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से पेट, पसलियां, गर्दन, पीठ आदि अंगो के विकार दूर होते हैं।

(३६) पार्श्वभूनमनासन

इसे करते समय दोनों एडियों को जमीन पर टिकाकर दोनों घुटनों को मिलाना चाहिए। पश्चात् जमीन पर दोनों हाथों की हथेलियाँ रखकर अगल-बगल शरीर को झुकाकर भूमि पर मस्तक रखना चाहिए। इस आसन से पसलियाँ, पेट पीठ आदि के स्नायु मल रहित होते हैं।

(३७) एकपाद पश्चिमतानासन

इस आसन को करते समय बारी-बारी से एक पैर सामने फैलाकर बैठना चाहिए तथा दोनों हाथों से पैर का अंगूठा पकड़कर घुटने को भूमि से सटाये हुए मस्तक का स्पर्श कराना चाहिए। इसके अभ्यास से टांगे, कमर, पीठ, उदर आदि के विकार दूर होते हैं।

(३८) ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन

इसको करते समय सामने फैले हुए दोनों पैरों के अंगूठों को हाथों से पकड़ना नहीं चाहिए तथा घुटनों को मस्तक का स्पर्श कराते समय बारीबारी से दक्षिण हस्त तथा वाम हस्त को सामने एवं पीछे फैलाना चाहिए। इसके अभ्यास से छाती एवं मुड्ढे बलवान् होते हैं।

(३९) विस्तृतपादभूनमनासन

इसको करते समय दोनों पैरों को अधिकतम रूप में एक दूसरे से दूर फैलाना चाहिए। इसके पश्चात् दोनों हाथों को भी फैलाकर दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़ना चाहिए तथा मस्तक को, दोनों घुटनों को भूमि से न उठाते हुए भूमि को लगाना चाहिए। इससे पैर, कमर, पीठ, पेट, जंघा के दोष दूर होते है तथा साधक पुरुष हो, तो उसका वीर्य स्थिर होता है।

(४०) विस्तृतपाद दक्षिण पार्श्व भूनमनासन

इस आसन को करते समय दोनों पैंरों को दूर-दूर फैलाना चाहिए

तथा दाहिने पैर के बगल में दोनों हथेलियों को जमीन पर रख कर उनके मध्य मस्तक को भूमि में लगाना चाहिए।

(४१) विस्तृतपाद वामपार्श्व भूनमनासन

इस आसन को करते समय दोनों पैरों को दूर-दूर फैलाकर तथा बायें पैर के बगल में दोनों हथेलियों को भूमिपर रखकर उन हथेलियों के मध्य भूमि में मस्तक को लगाना चाहिए। उक्त दोनों प्रकार के आसनों में छाति, भुजाएँ तथा कटिप्रदेश दोष रहित होते हैं।

(४२) विस्तृतपाद हस्तपार्श्व चालनासन

इसको करते समय दोनों पैरों को दूर-दूर फैलाना चाहिए। इसके पश्चात् दोनों हाथों को चारों ओर घुमाना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से फुफ्फुस, उदर, कटि, हृदय आदि दोष रहित होते हैं।

(४३) पृष्ठासन

इस आसन को करते समय पीठ के बल चित लेट कर दोनों घुटनों को मोड कर छाती से लगाना चाहिए तथा पैरों के टखनों पर दोनों हाथों की पकड़ दृढ़ रखकर आगे-पीछे झोका खाते हुए बार-बार नितम्ब के आधार पर बैठना तथा पीठ के बल लेटना चाहिए। इसके अभ्यास से कटि के दोष दूर होते हैं तथा पीठ, पेट आदि का दर्द दूर होता है। पेट की चर्बी भी झड़ जाती है।

(४४) उत्थितपृष्ठासन

इस आसन को करते समय पहले पद्मासन करना चाहिए। पश्चात् पीठ पर लेटना चाहिए तथा दोनों हाथों को शरीर के बगल में फैलाना चाहिए इसके पश्चात् भूमि पर पीठ को सटाकर रखते हुए पद्मासन की बैठक एवं मस्तक को यथाशक्ति ऊपर उठाना चाहिए। इससे पेट तथा छाति के स्नायु को बल प्राप्त होता है।

(४५) द्विपाद चक्रासन

इस आसन को करते समय पीठ के बल अर्थात् चित लेटना चाहिए तथा दोनों हथेलियों को नितम्ब के नीचे रखना चाहिए। इसके पश्चात् साइकिल के पैडल् चलाने की क्रिया के समान, दोनों पैरों को

हवा में संचालित करना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से कटि प्रदेश, नितम्ब, उदर, अन्त्र पैर आदि के विकार दूर होते है तथा वीर्य शुद्ध, पुष्ट एवं स्थिर होता है।

(४६) उत्थितद्विपादासन

इस आसन को करते समय पट लेटकर दोनों पैरों को साथ-साथ पैंतालिस अंश तक ऊपर उठाकर जमीन को न लगाते हुए धीरे-धीरे ऊपर नीचे करना चाहिए। इसके अभ्यास से उदर के स्नायु बलवान् होते हैं तथा मल का उत्सर्जन ठीक प्राकार से होता है।

(४७) उत्थित एकैक पादासन

इस आसन को करते समय पट लेटकर एक पैर को साढे बाईस अंश का कोण बनाते हुए तथा दूसरे पैर को पैंतालिस अंश का कोण बनाते हुए अधर में ऊपर नीचे करना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से कटि के स्नायु प्रबल होते हैं। वीर्य शुद्ध होकर स्वप्नदोष नहीं होता तथा मल का उत्सर्जन सम्यक्तया होता है।

(४८) उत्थितहस्त मेरुदण्डासन

इस आसन को करते समय पीठ के बल चित लेटना चाहिए। इसके पश्चात् कमर तक उठकर दोनों हाथों को पैर की ओर ले जाना चाहिए। पुनः पीठ के बल सोकर दोनों हाथों को बगल में सीधे फैलाना चाहिए तथा उक्त क्रिया को बार-बार दुहराना चाहिए। इसके अभ्यास से छाती, ग्रीवा, उदर, कटि, रीढ, ऊरु आदि बलिष्ठ होते हैं।

(४९) शीर्ष बल हस्तमेरुदण्डासन

इस आसन को करते समय पीठ के बल चित लेटना चाहिए। दोनों हथेलियों को मस्तक के नीचे रखना चाहिए। पैरों को सीधे फैलाकर रखना चाहिए। मस्तक के पीछे हथेलियों को लगाकर रखते हुए ही कमर तक बार-बार उठना चाहिए। इस समय दोनों पैर भूमि से उठने नहीं चाहिए। इस आसन से भी गर्दन, छाती, पेट, पीठ, रीढ आदि के दोष शान्त होते हैं।

(५०) जानुस्पृष्टभाल मेरुदण्डासन

इसको करते समय पीठ के बल लेटना चाहिए तथा एक पैर सीधा

फैलाकर दूसरे पैर का घुटना बारी-बारी से भाल को लगाना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से फुफ्फुस, यकृत, प्लीहा आदि रोगरहित होकर ग्रीवा, कटि, रीढ, ऊरु आदि बलिष्ठ होते हैं।

(५१) उत्थित हस्तपाद मेरुदण्डासन

इस आसन को करते समय पीठ के बल चित लेटना चाहिए। पश्चात् नितम्ब तक उठकर दोनों हाथों को तथा पैरों को पैंतालिस अंश का कोण बनाते हुए समानान्तर उठाना चाहिए तथा पुनः पूर्ववत् जमीन पर लेटना चाहिए। ऐसा इस आसन के अभ्यास में बार-बार करना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से भी छाती, पेट, अतडियां, कमर, ऊरु आदि के दोष दूर होते हैं।

(५२) उत्थितपादमेरुदण्डासन

इसको करते समय पहले चित लेटना चाहिए, पश्चात् दोनों केहुनियों के आधार पर धड़ को उठाना चाहिए तथा पैरों को पैंतालिस अंश तक ऊपर उठाकर नीचे-ऊपर करना चाहिए। इसके अभ्यास से कमर, पेट, तथा रीढ की अस्थि दोषरहित होती हैं।

(५३) भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन

इस आसन को करते समय उक्त उत्थितपाद मेरुदण्डासन करते हुए मस्तक को दोनों घुटनों से स्पर्श करना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से वही लाभ होता है, जो उत्थितपाद मेरुदण्डासन से होता है।

(५४) पादपार्श्वचालनासन

इसको करते समय पीठ के बल चित लेटना चाहिए। दोनों हाथों को मस्तक के दोनों ओर सीधा फैलाना चाहिए। पश्चात् कमर तक दोनों पैर सटाकर उपर सीधा उठाना चाहिये तथा दाहिनी ओर तथा बायी ओर दोनों सटे हुये पैरों को भूमि का स्पर्श कराना चाहिये। इस आसन के अभ्यास से कमर तथा अंतडियां शुद्ध होकर स्नायु बलवान् होते हैं। मल का उत्सर्जन ठीक होता है।

(५५) भूस्पृष्ठपाद सर्वांगासन

इसको करते समय पहले चित लेटना चाहिये तथा दोनों पैरों को ऊपर उठाकर मस्तक के ऊपर लाना चाहिए। पश्चात् दोनों हथेलियों

का पीठ को सहारा देकर दोनों पैरों को अधिक से अधिक फैलाकर मस्तक के पार्श्व में भूमिको लगाना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से ग्रीवा, छाती, पेट, अन्त्र, रीढ, कमर, पैर आदि के दोष दूर हो जाते हैं। वीर्याशय बलिष्ठ होकर शुक्रदोष तथा स्वप्नदोष भी नष्ट होते हैं तथा आयुवृद्धि होती है।

(५६) विपरीत दण्डासन

इस आसन को करते समय दोनों पैरों को सामने फैलाकर तथा दोनों हथेलियों को पीछे भूमि पर रखकर बैठना चाहिए। पश्चात् सम्पूर्ण शरीर का भार दोनों भुजाओं पर देकर सम्पूर्ण शरीर को ऊपर उठाना चाहिए। मस्तक की ओर शरीर की भूमि से ऊँचाई भुजा की लम्बाई के बराबर अधिक होकर पैर की एडियों तक जो भूमि पर टिकी होती है, पैर की ओर की उँचाई कम होती है। इस आसन के अभ्यास से उदर रोग दूर होते हैं।

(५७) उत्थित समकोणासन

इसको करते समय दोनों पैर फैलाकर नितम्ब पर बैठना चाहिए। पश्चात् धड एवं दोनों पैरों का पैंतालिस अंश का कोण बनाकर शरीर के दोनों ओर जमीन पर टिकी हुई हथेलियों के आधार पर दोनों भुजाओं के सहारे सम्पूर्ण शरीर को बार-बार तौलना चाहिए। इसके अभ्यास से उदर के स्नायु बलवान् होकर दोनों स्कन्ध तथा बाहु पुष्ट होते हैं।

(५८) उत्थित-एकपाद भुजंगासन

इस आसन को करते समय पेट के बल लेटना चाहिए। पश्चात् शरीर को छाती तक उठाकर दोनों हाथों की कोहनियों को मोडकर छाती के नीचे भूमिपर रखना चाहिए तथा बिना घुटनों में मोडे दोनों पैरों को बारी-बारी से यथा संभव ऊपर उठना चाहिए। इसके अभ्यास से यकृत एवं प्लीहा के दोष दूर होते हैं तथा कमर के स्नायु बलवान् होते हैं।

(५९) सरलहस्त भुजंगासन

इस आसन को करते समय पेट के बल सीधे लेटना चाहिए। पश्चात् शरीर के दोनों ओर जमीन पर हथेलियों को जमाकर उनके सहारे दोनों

भुजाओं पर पेट तक के शरीर के उपरी भाग को तानना चाहिए। ऐसा करते समय दोनों भुजायें सीधी खड़ी होनी चाहिए। इस आसन के अभ्यास से ग्रीवा, छाती तथा पेट के विकार दूर होकर कटिशूल भी प्रशमित होता है। इस आसन के सतत अभ्यास से पेट पर की चर्बी घट जाती है।

(६०) नौकासन

इस आसन को करते समय पेट के बल पट लेटना चाहिए। पश्चात् दोनों हथेलियों को नितम्ब पर रखकर शक्ति के अनुसार मस्तक, गर्दन तथा छाती को आगे से तथा पैरों को पीछे से ऊपर उठाना चाहिए। इसके अभ्यास से गर्दन से जंघाओं तक सभी अंग दोष रहित होते हैं तथा मेरुदण्ड बलिष्ठ होता है।

(६१) दोलासन

इसको करते समय मस्तक के आगे दोनों हाथ फैलाकर पेट के बल लेटना चाहिए। पश्चात् दोनों हाथों को तथा पैरों को यथा सम्भव ऊपर उठाकर शरीर को झोले के समान करना चाहिए। ऐसा करते समय भूमि से केवल पेट एवं उपस्थ सटा रहता है। इसके अभ्यास से गर्दन, छाती, पेट, कमर, जंघा, कन्धे आदि को बल प्राप्त होता है।

(६२) पार्श्वासन

इस आसन को करते समय प्रथमतः करवट लेट कर दोनों पैरों में एक हाथ की दूरी तथा मस्तक के पीछे दोनों हाथों में भी एक हाथ की दूरी रखनी चाहिए। पश्चात् शरीर को भूमि पर न टिकाते हुए उसको ऊपर नीचे हिलाना चाहिए तथा मस्तक को दूसरी ओर झुकाना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से यकृत तथा प्लीहा स्वस्थ रहते हैं।

(६३) नासिकास्पृष्टजानुपार्श्वासन

इस आसन को करते समय पार्श्वासन की क्रिया को करते हुए वाम जानु को मोड़कर छाती के पास लाना चाहिए तथा उससे नासिका का स्पर्श कराना चाहिए। इसके विपरीत दक्षिण करवट में दक्षिण जानु से नासिका का स्पर्श कराना चाहिए। इसके अभ्यास से ग्रीवा तथा छाती दोषरहित होती है।

(६४) **पार्श्वचलितधनुरासन**

इस आसन को करते समय पहले बताये हुए चौबीस नंबर के धनु-रासन की क्रिया करनी चाहिए। अन्तर इतना ही है कि यह क्रिया दक्षिण तथा वाम दोनों करवट लेट कर करनी होती है। इसके अभ्यास से उदर-विकार दूर होते हैं।

(६५) **आकर्ण धनुरासन**

इसको करते समय सामने की ओर दोनों पैर फैलाकर रक्खे। पश्चात् वामहस्त से दक्षिण पादका अंगूठा पकड़ना चाहिए तथा दक्षिणहस्त से वामपद का अंगूठा पकड़कर उसको दक्षिण कर्णतक खींचना चाहिए। इसके विपरीत वामहस्त से दक्षिण पादका अंगूठा वामकर्ण तक खींचना चाहिए। इसके अभ्यास से पीठ, पेट, तथा छाती के रोग दूर होते हैं।

(६६) **चतुष्पादासन**

इसको करते समय दोनों हाथों पर तथा दोनों पैरों पर प्रतिदिन पाँच मिनट तक पशु के समान चलना चाहिए। इसके अभ्यास से कोष्ठ-बद्धता दूर होती है।

(६७) **शीर्षबद्धहस्तहलासन**

इसको करते समय पेट के बल पट सोना चाहिए। पश्चात् दोनों हथेलियों से मस्तक को बाँधकर दोनों पैरों को मस्तक के पीछे जमीन पर लगाना चाहिए। इसके अभ्यास से गर्दन, पेट, पीठ आदि के रोग दूर होकर आयु की वृद्धि होती है।

(६८) **शीर्षस्पृष्टपद्महलासन**

इसको करते समय सर्वप्रथम पद्मासन लगाकर चित लेटना चाहिए तथा दोनों हाथ शरीर के दोनों ओर रखने चाहिए। इसके पश्चात् पद्मासनबद्ध पावों को सरके पीछे भूमि पर रखना चाहिए तथा दोनों पद ललाट पर रखने चाहिए। दोनों हाथ वैसे ही भूमि पर प्रसृत एवं स्थिर रखने चाहिए। इस आसन के अभ्यास से गर्दन, छाती, कमर के उपद्रव शान्त होकर आयु बढ़ती है।

(६९) **प्रसृतहस्तवृश्चिकासन**

इस आसन को करते समत प्रथमतः भूमि पर पेट के बल पट सोना चाहिए तथा दोनों हाथ शरीर के दोनों तरफ रखने चाहिए। पश्चात् दोनों पैरों को शनैः शनैः ऊपर उठाते हुए मस्तक पर रखना चाहिए। ऐसा करते समय हनु तथा छाती ही भूमि पर टिकी रहनी चाहिए। इसके अभ्यास से गला, छाती, पेट, कमर आदि के रोग दूर होकर आयु-वृद्धि होती है।

(७०) **वलितपादसर्वाङ्गासन**

इसको करते समय सर्वप्रथम प्राक्प्रतिपादित सर्वाङ्गासन करना चाहिए तथा पैरों को आगे-पीछे हिलाना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से ग्रीवा, वक्ष, कटि, उदर, हृदय आदि उपद्रवरहित होकर बलवान् होते हैं तथा साधक की आयु वृद्धिगत होती है।

(७१) **विवृत्तत्रिकासन**

इस आसन को करते समय दोनों पैरों में एक हाथ की दूरी रखकर खड़ा होना चाहिए तथा केहुनियों से मुड़े हुए दोनों हाथों को कमर के दोनों ओर आगे-पीछे धुमाना चाहिए। इसके अभ्यास से पेट एवं कटि के विकार दूर होते हैं।

(७२) **प्रसृतहस्तविवृत्तत्रिकासन**

इसको करते समय प्रथमतः विवृत्तत्रिकासन करते हुए दोनों हाथों को शरीर (छाती) के दोनों ओर फैलाकर आगेपीछे घुमाना चाहिए।

(७३) **शीर्षबद्धहस्तविवृत्तत्रिकासन**

इसको करते समय विवृत्तत्रिकासन करते हुए मस्तक के पीछे दोनों हथेलियों को बांधना चाहिए तथा कमर के ऊपर का भाग दोनों ओर घुमाना चाहिए।

(७४) **ऊर्ध्वहस्तजानुभालासन**

इस आसन को करते समय दोनों पाव जोड़कर सीधा खड़ा रहना चाहिए। पश्चात् घुटनों को बिना झुकाये उनको ललाट का स्पर्श कराना

चाहिए तथा दोनों हाथ ऊपर की ओर सीधे उठे हुए होने चाहिए। इसके अभ्यास से पेट के विकार दूर होते हैं।

(७५) भूस्पृष्टहस्तजानुभालासन

इसको करते समय कमर से झुक कर तथा दोनों हथेलियों को सटे हुए पैरों के दोनों ओर जमीन पर रखकर घुटनों को न झुकाते हुए उनको मस्तक लगाना चाहिए। इसके अभ्यास से पीठ, पेट, कमर, जंघा, पैर आदि दोषरहित होते हैं।

(७६) पृष्ठबद्धहस्तजानुभालासन

इस आसन को करते समय दोनों हथेलियाँ नितम्ब पर बँधी रहकर दोनों घुटनों को न झुकाते हुए उनको भाल प्रदेश का स्पर्श कराना चाहिए। इसके अभ्यास से भी पीठ, कटि तथा पैर प्रबल होते हैं।

(७७) ऊर्ध्वस्थितपृष्ठवक्रासन

इसको करते समय प्रथमतः खड़े होकर दोनों हथेलियों को पीठ के नीचे लगाकर पीछे की ओर यथा सम्भव झुकना चाहिए तथा इसी प्रकार आगे भी झुकना चाहिए। इसके अभ्यास से गर्दन, छाती, पीठ, कमर, पैर आदि के दोष दूर हो जाते हैं।

(७८) शुण्डासन

इस आसन को करते समय सीधे खड़े होकर तथा दोनों हाथ जोड़ कर आगे झुकते हुए दोनों पैरों के बीच से सटे हुए हाथों को सूंढ़ की तरह पीछे निकालना चाहिए। इसके अभ्यास से भी पेट, पीठ, छाती, कमर आदि के उपद्रव शान्त होते हैं।

(७९) अर्धचक्रासन

इस आसन को करते समय सीधे खड़े होकर दोनों हाथों को जोड़कर मस्तक के ऊपर से पीछे फैलाकर पीछे की ओर यथाशक्ति झुकना चाहिए। इसके अभ्यास से कटिविकार दूर होता है।

(८०) चक्रासन

इसको करते समय अर्धचक्रासन करते हुए मस्तक के ऊपर से पीछे की ओर फैले हुए दोनों हाथों को धीरे-धीरे पीछे की ओर भूमि पर रखना चाहिए तथा पैर को स्पर्श करना चाहिए। इस क्रिया से शरीर की स्थिति चक्र के समान गोल हो जाती है। इसके अभ्यास से कमर का दोष दूर होकर पेट स्वच्छ होता है।

(८१) भूस्पृष्ठ हस्त वृक्षासन

इस आसन को करते समय, सीधा खड़ा रहना चाहिए तथा दोनों पैर की दूरी एक हांथ होनी चाहिए। पश्चात् दक्षिण हस्त से दक्षिण पाद के पंजे को स्पर्श करना चाहिए तथा वाम हस्त सीधे ऊपर उठा हुआ होना चाहिए। दृष्टि भी ऊपर उठे हुए हाथ की हथेली पर टिकी होनी चाहिए। उसको वाम हस्त एवं वाम पादभेद से भी करना चाहिए। इसके अभ्यास से पसलियाँ, पेट, कटि आदि शुद्ध होती हैं।

(८२) पृष्ठवलितवृक्षासन

इसको करते समय दोनों हाथों को दोनों ओर फैलाकर दक्षिण तरफ से शरीर को मोड़कर पीछे की ओर झुकना चाहिए तथा क्रमशः वाम तरफ से शरीर को मोड़कर पीछे की ओर झुकना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से भी पसलियों एवं पेट को बल मिलता है।

(८३) पार्श्ववलितवृक्षासन

इसको करते समय सरपर दोनों हाथों को ऊपर उठाकर जोड़ना चाहिए तथा दाहिने बायें शरीर को यथासम्भव झुकाना चाहिए। इसके अभ्यास से भी पसलियाँ तथा कमर शुद्ध होती है।

(८४) पार्श्वपृष्ट वलित वृक्षासन[1]

इस आसन को करते समय सीधे खड़े होकर दोनों हांथों को फैलाकर पीछे की ओर भूमि में एकबार दक्षिण तो दूसरी बार वाम हस्त को

---

१. चौरासी आसनों के इस संक्षिप्त विवरण की तथा राजयोग के अन्तर्गत आसन-प्रकरण में चौरासी आसनों के संक्षिप्ततम विवरण की, प्रस्तुति में, जिन योग

लगाना चाहिए। दूसरा हाथ उस समय ऊपर रहना चाहिए। इस आसन के अभ्यास से भी पसलियां, पेट, कमर आदि विकाररहित होते हैं।

इस प्रकार, शुद्ध यौगिक तथा यौगिक व्यायामात्मक आसनों के क्रियान्वयन पद्धति का तथा उनके स्वास्थ्य-वर्धक लाभों का यथामति संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। सम्प्रति व्यायामात्मक आसनों की क्रिया-पद्धति के विषय में यह कहना अनिवार्यतया समपेक्षित प्रतीत होता है कि उपर्युक्त चौरासी आसनों के, धौति, बस्ति, नेति, नौलि, कपाल-भाति तथा त्राटक इन षट्कर्मों के, मूलबन्ध, महाबन्ध, उड्डीयानबन्ध तथा जालन्धरबन्ध के तथा महामुद्रा, नमोमुद्रा, खेचरी मुद्रा आदि प्रमुख मुद्राओं के अभ्यास को यौगिक क्रियासिद्ध सद्गुरु के तत्त्वावधान में उसके निर्देश के अनुसार ही करना साधकों के लिए हितप्रद होता है।

●

मर्मज्ञ तपस्वीयों एवं मनिषियों के आलेखों से सहायता प्राप्त हुई है, उन लोणावला, महाराष्ट्र के कैवल्यधाम-आश्रम के संचालक पूजनीय श्री कुवलयानन्दजी, अमरावती, महाराष्ट्र के वरुड आश्रम के संचालक श्रद्धेय श्री शिवानन्द तीर्थ तथा पण्डित श्री हनुमान जी शर्मा महोदय का ग्रन्थ प्रणेता नितान्त आभारी हैं।

प्राणायाम का स्थूल भौतिक शरीर पर प्रभाव

प्राणायाम के विषय में विस्तार पूर्वक वर्णन यथास्थान किया जा चुका है। सम्प्रति एतद्विषय में सविस्तर निरूपण न कर संक्षेप में इतना ही लेखन पर्याप्त होगा कि बाह्यवृत्ति प्राणायाम, आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम तथा चतुर्थ प्राणायाम ये मुख्य चार प्राणायाम एवं लोम-विलोम, सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका भ्रामरी, मूर्च्छा, तथा प्लाविनि ये नव उपप्राणायाम, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, घृणा, शोक, हर्ष, अनुताप आदि मनोविकारों को तथा विविध्र विषय वासनाओं को नष्ट करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। मनः शान्ति को नष्ट करनेवाले उक्त मनोविकारों तथा विषयवासनाओं का उद्भव सामान्यतया मस्तिष्क की अर्धचेतन अवस्था में होता है। उक्त विकारों तथा वासनाओं का साक्षात् सम्बन्ध मस्तिष्क के अन्तर्गत स्नायु-मण्डल से होता है। समुचित प्राणायाम की साधना से पूर्णनियन्त्रण उक्त स्नायुमण्डल विशेष पर तथा आज्ञाचक्र पर होता है तथा एतत्फलस्वरूप मनोविकार एवं कलुषित वासनाएँ भी नियन्त्रित होकर अन्त में तिरोहित होती हैं। मानसिक समता में विप्लव उत्पन्न करने वाले कारणों को मल कहा गया है। इसी मल को मनोमालिन्य भी कहते हैं। यह मन का मल आत्मप्रकाश को आच्छन्न करता है। मन के इस मल को क्षालन कर प्राणायामसाधना मन की समता को स्थापित करती है, जो प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान के लिए भूमिका के रूप में नितान्त आवश्यक होती है।

प्राणायाम का प्रभाव मनस्तत्त्व पर जितना पड़ता है, उससे कहीं अधिक मानवीय शरीर के अन्तर्गत अङ्ग समूहों के कार्य प्रणालियों पर पड़ता है। मानवीय शरीर विज्ञान (Anatomy) के अनुसार मानव शरीर के अन्तर्गत सतत कार्यव्यस्त विभिन्न अङ्ग-समूहों की प्रमुख

कतिपय कार्यप्रणालियाँ अर्थात् जीवन-रक्षक एवं संवर्धक कार्य पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं।

(१) स्नायुमण्डल की कार्य-प्रणाली (Nervous System),

(२) ग्रन्थिसमूह की कार्य-प्रणाली (Endocrine Glandual System),

(३) श्वसन-अंग-समूह की कार्य-प्रणाली (Respiratory System),

(४) रुधिराभिसारक अंग समूह की कार्य-प्रणाली (Circulatory System), तथा

(५) पाचक-पोषक अंग समूह की कार्य-प्रणाली (Digestive System)।

(१) स्नायुमण्डल की कार्य प्रणाली (Nervous System)

मानव के सम्पूर्ण शरीर की क्रियाशक्ति (Motor Power) तथा संवेदन शक्ति (Sense Power) इसी स्नायुमण्डल प्रणाली पर अवलम्बित होती है। उक्त स्नायु मण्डल प्रणाली का मुख्य केन्द्र मस्तिष्क (Brain) तथा मेरुदण्ड (Spinal Cord) होता है। चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय इन पञ्चज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संवेदना का ग्रहण होता है तथा दो हाँथ, दो पाँव, गुद, जननेन्द्रिय एवं वाणी इन पांच कर्मेंद्रियों से क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति होती है। उक्त मेरुदण्ड से सम्बद्ध अनन्त शिराओं के द्वारा शरीर के समस्त अङ्गों एवं प्रत्यङ्गों को स्फूर्ति प्राप्त होकर उनमें क्रियाशक्ति का संचरण होता है। यदि मस्तिष्क, मेरुदण्ड अथवा स्नायुमण्डल की विकृति के कारण शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में तथा रग-रग में स्फूर्ति एवं क्रियाशक्ति के उत्पन्न होने में कोई अल्प भी प्रतिबन्ध होता है, तो समस्त शारीरिक क्रियाओं के साथ ही रुधिराभिसरण, श्वसनक्रिया आदि अवरुद्ध होकर जीवन संकटमय हो जाता है। तात्पर्य, शरीर में स्नायुमण्डल प्रणाली का, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के बाह्य एवं आभ्यन्तर समस्त जीवन-रक्षक क्रियाओं को सुचारुतया सञ्चालित रखने की दृष्टि से अनितरसाधारण महत्त्व प्रतीत होता है।

(२) ग्रन्थि समूह की कार्यप्रणाली (Glandual System)

मानव शरीर में स्वास्थ्य-संरक्षण की दृष्टि से इन्डोक्राइन् (Indo-crine) ग्रन्थि समूह को अति महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मानव शरीर के अन्तर्गत होने वाले अङ्ग-प्रत्यङ्गों के संवर्धन, संरक्षण, संपोषण, सन्तुलन, नियन्त्रण, परिवर्तन, प्रजनन आदि गणनातीत कार्यों के अतिरिक्त स्नायुमण्डल के आपादमस्तक होने वाले कार्यों को सम्यक्तया सम्पादित करना इस ग्रन्थि समूह का अनिवार्य उद्देश्य होता है। इसके अन्तर्गत विविध ग्रन्थियों से स्रवित विभिन्न प्रस्रव (Hormones) भिन्न-भिन्न कार्यपद्धतियों के द्वारा स्वास्थ्यवर्धन में प्रतिक्षण योगदान देते हैं। इसके अभाव में जीवन की क्रियाएँ, स्फूर्ति, ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, प्राणशक्ति तथा क्रियाशक्ति मन्द एवं शिथिल हो जाती हैं। तात्पर्य, इन्डोक्राइन ग्रन्थि समूह का स्थान मानव के शरीर में वैशिष्टयपूर्ण प्रतीत होता है।

इन्डोक्राइन ग्रन्थिसमूह के अन्तर्गत कतिपय प्रमुख ग्रन्थियां निम्नलिखित हैं।

(१) पिटुइटरी ग्रन्थि (Hypophisis or Pituitary gland)

यह ग्रन्थि मस्तिष्क (Brain) के आधार में स्थित होती है। इससे तीन प्रकार के प्रस्रव (Hormones) निकलते हैं। इसके समुचित कार्य करने की स्थिति में मनुष्य की अस्थियों की वृद्धि संतुलित होती है। मेद की अनावश्यक वृद्धि नहीं होती। स्त्री एवं पुरुष के प्रजननांगों की समुचित वृद्धि होकर शुक्रकीट (Spermatozua) तथा डिम्ब (Ovem) का सन्तुलित निर्माण होता है तथा स्त्री-पुरुष की प्रजननक्षमता प्रफुल्लित होती है। इस ग्रंथि के सम्यक् कार्य से वृक्क (Kidney) के कार्य का भी नियन्त्रण होता है तथा शरीर में जल एवं क्षार का सन्तुलन बना रहता है।

(२) थाइराइडग्रन्थि (Thyroid gland)

यह ग्रन्थि ग्रीवा (Throat) में होती है। इसके उचित प्रस्रवों से मनुष्य की आयु के साथ-साथ उसके शरीर का, सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों का तथा बुद्धि का समुचित विकास होता है। इस ग्रन्थि के उचित कार्य

से स्थूलता तथा कृशता न होकर शरीर सामान्य एवं स्वस्थ होता है तथा अस्थियों की भी समुचित वृद्धि होती है।

(३) **पैराथाइराइड ग्रन्थि** (Parathyroid gland)

यह ग्रन्थि थाइराइड ग्रन्थि के पार्श्वभाग में रहती है। इसकी समुचित कार्यक्षमता से शरीर में चूने (Calciam) के वितरण में सन्तुलन होकर अस्थियाँ पुष्ट एवं दृढ़ होती है। इससे शरीर पर आवश्यक वसा भी होती है। चूने की सन्तुलित स्थिति से स्नायुमण्डल का कार्य नियमित होता है। यह ग्रन्थि यकृत को शर्कराजन से शर्करा बनाने से प्रतिबन्धित करती है।

(४) **थाइमसग्रन्थि** (Thymus gland)

यह ग्रन्थि ग्रीवा के नीचे छाती के अस्थि के पार्श्व में अवस्थित है। यह आयु के पन्द्रह वर्ष तक वृद्धिगत होती है तथा आयु के बढ़ने के साथ-साथ छोटी होती जाती है। इसके दो भाग होते हैं। यह ग्रन्थि भी अस्थियों को कैल्शियम को ग्रहण करने में सहायक होती है तथा वसा को सन्तुलित रखती है। इस ग्रंन्थि के समुचित कार्य से शरीर का विकास भलीभाँति होता है।

(५) **एड्रिनालग्रन्थि** (Adrinal or Suprarenal gland)

इस ग्रन्थि के दो भाग होकर ये दोनों वृक्कों (Kidneys) के ऊपर सटकर अवस्थित है। इनकी उचित कार्यक्षमता से शरीर की वृद्धि एवं विकास होकर स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। इस ग्रन्थि के सौजन्य से ही मनुष्य की यौन भावनाएँ समय से विकसित होती हैं। मनुष्य के स्वास्थ्य, शक्ति एवं बुद्धि के समयोचित विकास का उत्तरदायित्व इन ग्रंथियों पर होता है।

(६) **पैंक्रियाज् ग्रन्थि** (Pancreas gland)

यह ग्रन्थि आमाशय (Stomach) के नीचे प्लीहा के समीप वृक्कों के आगे होती है। यह प्रायः सभी ग्रंथियों में बड़े आकार की पिस्टल के समान होती है। इस ग्रंथि से चार प्रस्रव (Hormones) निकलते हैं।

इनमें इनसुलीनप्रस्रव (Insulin Hormone) मुख्य होता है। यह इनसुलीन रक्त में शर्करा की मात्रा को नियंत्रित करता है तथा कार्बोज को ग्यूकोज में परिवर्तित करता है, जिससे शर्करा (Carbohydrates) रक्त में घुलनशील हो सके। इसके अतिरिक्त यह ग्रन्थि क्षुद्रान्त्र (Small Intestine) में पाचन एवं रसशोषण की क्रिया में सहायक होती है।

इन ग्रन्थियों के अतिरिक्त मानव शरीर में पीनियल ग्रन्थि (Pineal gland), पौरुष ग्रंथि (Prostate gland), अण्ड (शुक्र) ग्रंथि (Testis gland), डिम्ब ग्रन्थि (Ovaries), लाला ग्रंथि, अश्रु ग्रन्थि, आदि अनेक ग्रन्थियाँ अनवरत रूप में कार्य करती हैं, जिससे आबाल-वृद्ध तथा आस्त्री-पुरुष सभी को स्वास्थ्य लाभ होता है।

(३) श्वसन-अंग समूह की कार्य प्रणाली (Respiratory System)

श्वसन अंग समूह के अन्तर्गत नासिका प्रणाली, श्वासनलिका, फुफ्फुसद्वय, नाभि तक का उदर का चर्म एवं मांस पेशी के आभ्यन्तरगत रिक्त भाग आदि हैं। संक्षेप में श्वसन-अंग समूह की कार्य प्रणाली में प्रमुखतया दो बातें अन्तर्भूत होती हैं। श्वास लेना तथा प्रश्वास छोड़ना। मनुष्य यदि इन दोनों में से कोई एक क्रिया न करें अर्थात् श्वास लेकर उसको बाहर न छोड़े अथवा प्रश्वास बाहर छोड़ कर श्वास भीतर ही न ले, तो सम्भवतः वह स्वस्थ तो क्या जीवित ही नहीं रह सकेगा। तात्पर्य मनुष्य को जीवित रहने के लिए श्वास-प्रश्वास की क्रिया करनी ही पड़ती है। यह तो श्वसन-अंग समूह की कार्य प्रणाली का स्थूल उद्देश्य है। स्वास्थ्य की दृष्टि से नितान्त हितप्रद सूक्ष्म उद्देश्य है रस का रक्तीकरण तथा रक्त का शुद्धीकरण। श्वास का पूरण करते समय मनुष्य अपने दोनों फुफ्फुसों में प्राणवायु (Oxygen) को भर लेता है। उस समय फुफ्फुसों में पाक-रसपर प्राणवायु के संयोग से रासायनिक ज्वलनात्मक क्रिया होकर उसका रक्त में परिवर्तन होता है तथा अन्य रासायनिक क्रिया से उस का शुद्धीकरण भी होता है। इसी समय प्राणवायु के प्रज्वलन के कारण वह, कार्बन डाइआक्साइड के रूप में प्रश्वास के साथ बाहर निकल जाता है। उक्त शुद्धीकृत रक्त क्षणार्ध में मस्तिष्क (Brain) में हृदय के द्वारा पहुँचाया जाता है। तथा क्षणमात्र में सम्पूर्ण शरीर में

अभिसरित होता है। इस प्रकार स्वस्थ एवं जीवित रहने की दृष्टि से श्वसन-अंग समूह की कार्य प्रणाली का अत्यंत महत्त्व है।

(४) रुधिराभिसारक अंग समूह की कार्य प्रणाली
(Cerculatory System)

रुधिर-अभिसारक अंग समूह के अन्तर्गत प्रमुख रूप में सम्पूर्ण मानव शरीर के आभ्यन्तर हृदय, आर्टेरीज, वेनूस तथा असंख्य रक्तवाहिनियाँ हैं, जो मस्तक से पाद तक प्रसृत हैं। यदि इन रक्त वाहिनियों में रक्त संचार क्षणमात्र के लिए अवरुद्ध होता है, तो तत्सम्बद्ध अंग-प्रत्यंगों में बधिरता अर्थात् शून्यता भासमान होती है तथा स्नायुमण्डल, इण्डोक्राइन ग्रन्थियाँ आदि महत्त्वपूर्ण अंग निष्क्रिय होते हैं। तात्पर्य मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए रुधिराभिसरण की अनिवार्यता होतो है। प्रमुखतया रुधिराभिरण अर्थात् रक्त संचरण के शरीर के अन्तर्गत तीन महत्पूर्ण कार्य होते हैं। (१) शरीर के प्रत्येक सेल को प्रोटीन, वसा, शर्करा, जल, कार्बोहाइड्रेट्स, विभिन्न लवण, आक्सीजन, आदि को पहुँचाना, (२) रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुए मलिन एवं हानिकारक पदार्थों को फुफ्फुस, वृक्क, यकृत, त्वचा आदि उत्सर्जन, केन्द्रों तक पहुँचाना तथा (३) प्रतिकार शक्ति के द्वारा मानव को रोगों से विशेषतया सोराजन्य रोगों से एवं विभिन्न संसर्गों से बचाना।

(५) पाचक-पोषक अंग समूह की कार्यप्रणाली
(Digestive System)

पाचक एवं पोषक अंग समूह के अन्तर्गत मुख, दन्त, जिह्वा, लालाग्रन्थियां, तालु, अन्ननलिका, उदर, यकृत, क्लोम, क्षुद्र अन्त्र आदि है। इनका कार्य तभी सुचारुतया सम्पन्न होता है, जब स्नायुमण्डल का, ग्रन्थिसमूहका, रुधिरा-भिसरण का तथा श्वसन का कार्य सम्यक्तया होता रहता है। यदि उक्त पाचक एवं पोषक अंगान्यतम में कोई दोष उत्पन्न होता है अथवा उक्त दोष से उसके कार्य में विकृति-शिथिलता उत्पन्न होती है, तो ऐसी स्थिति में उत्तम पौष्टिक एवं सन्तुलित आहार के सेवन से भी मनुष्य को पोषण का लाभ नहीं प्राप्त होता। तात्पर्य यह है कि संक्रामक किटाणुरहित, शुद्ध एवं सद्यः पाचित, पौष्टिक तथा

सन्तुलित भोजन को मुख में लालाग्रन्थियों के रस से मिश्रित कर दाँतों से पिष्ट होने तक उसका चर्वण होता है तथा इसके पश्चात् अन्ननलिका (Pharynx gullet of oesophegus) के द्वारा वह पेट (Abdomen) में पहुँचता है। वहाँ पर पेट के अन्दर की आमाशयिक ग्रन्थियों (Gastric glands) से स्रवित आमाशयिकरस (Hydrochloric Acid) एवम् अन्य दो प्रकार के खमीर (Ferments) जैसे रेनिन (Renin) तथा पेप्सिन (Pepsin) उसमें मिलते हैं। इन्हीं रसों की सहायता से आमाशय (Stomach) में भोजन का पाचन होता है। तदनन्तर ड्यूडेनम् (Duodenum) से होकर यह क्षुद्र-अन्त्र (Small intestine) में पहुँच जाता है। यहाँ तक पाचन क्रिया सम्पन्न होकर आगे पोषण क्रिया प्रारम्भ होती है। पक्वाशय अर्थात् क्षुद्र-अन्त्र में मथित आहार के पहुँचने के उपर्यन्त उसमें आन्त्रिक रस (Succus Entericus), जिसमें इरेप्सिन, एन्ट्रोकाइनेज् तथा फेरमेन्ट्स ये तीन तत्त्व विद्यमान रहते हैं, मिलकर उसको रक्त में मिलजाने योग्य बनाते हैं। उक्त मथित आहार धीरे-धीरे क्षुद्र-अन्त्र में अग्रेसर होता है और साथ ही साथ क्षुद्र-अन्त्र की दींवारों से संयुक्त कोशिकाओं के द्वारा उसके रसका शोषण भी होता जाता है तथा अत्यन्त पेचीदी प्रक्रिया के अन्तर्गत रक्त आदि विविध पोषक अंगों में उसका समावेश होता है।

मनुष्य को यदि पौष्टिक एवं सन्तुलित भोजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता, तो स्थूल बुद्धि से यह मानना अवास्तविक न होगा कि पक्वाशय में पहुँचने वाले पाकरस में पौष्टिक तत्त्वों की न्यूनता होगी और एतत्परिणामस्वरूप रक्त को पौष्टिक तत्त्व एवम् ऊर्जा की मात्रा कम प्राप्त होगी तथा उसकी हेमोग्लोविक सम्पदा न्यून होकर मनुष्य का स्वास्थ्य गिर जायेगा। इस सम्बन्ध में मनुष्य के सन्तुलित एवं पौष्टिक भोजन में सम्मिलित तत्त्वों का संक्षिप्तम विवरण प्रस्तुत करना अप्रासङ्गिक न होगा।

(१) प्रोटीन (Protein) यह कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन नाइट्रोजन, गन्धक तथा फास्फोरस का मिश्रण होता है। शरीर के स्वास्थ्य विकास तथा शक्ति के लिए आवश्यक तत्त्व है।

(२) कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) यह कार्बन, हाइड्रोजन तथा आक्सीजन इन मूल तत्त्वों से बनता है तथा इसमें सभी

प्रकार की शक्कर एवं श्वेत सार (Storch) अन्तर्भूत होते हैं। उससे शरीर में उष्णता, ऊर्जा तथा शक्ति उत्पन्न होती है।

(३) वसा (Fat) यह भी भिन्न अनुपात से कार्बन, हाइड्रोजन तथा आक्सीजन से बनती है। इसका कार्य उष्णता तथा मांस पेशियों को शक्ति पहुँचाना है।

(४) **खनिज लवण** (Mineral Salts)

इनमें कैल्सियम, फास्फेट, आयरन तथा आयोडीन का अन्तर्भाव होता है। अस्थि, दन्त आदि के विकास के लिए तथा रक्त वृद्धि के लिए इनकी विशेष आवश्यकता होती है एवं मानव शरीर के सर्वाङ्गीण स्वास्थ्य के लिए भी ये लवण अनिवार्य होते हैं।

(५) **विटामिन्स** (Vitamins)

इसके अन्तर्गत विटामिन ए, विटामिन बी काम्प्लेक्स, विटामिन सी, विटामिन डी, विटामिन ई, विटामिन के, विटामिन एम् तथा विटामिन पी होते हैं। विटामिन बी काम्प्लेक्स में बी वन्, बी टू, बी सिक्स, बी ट्वेल्व आदि प्रमुख माने जाते हैं। ये सभी विटामिन्स, मनुष्य के शरीर का सर्वाङ्गीण विकास अर्थात् शारीरिक समस्त अंग-प्रत्यंगों के आपाद मस्तक, अस्थि से लेकर चर्म तक सभी घटकों के (सेलों के), सप्त धातुओं के तथा सभी प्रणालियों के विकास, रोग-निवृत्ति तथा स्वास्थ्य का प्रमुख कारण होते हैं।

प्राणायाम के स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर पर होनेवाले प्रभाव को समझने के लिए पूर्वपीठिका अथवा भूमिका के रूप में मानवशरीरशास्त्र (Anatomy) के कतिपय स्थूल सिद्धान्तों की इस अतिसंक्षिप्त प्रस्तुति का यथामति उपक्रम किया है।

सम्प्रति प्राणायाम के समुचित आभ्यास का मानव शरीर के आभ्यन्तर प्रागुल्लिखित कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रणालियों के स्वास्थ्यवर्धक कार्यों पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है इसको देखते हैं।

प्रथमतः अन्न एवं जल के पाचक तथा तत्सम्बद्ध पोषक अङ्गों में प्रमुख आमाशय (Stomach), उसके पृष्ठ भाग में स्थित क्लोमग्रंथि

(Pancreas), यकृत (Hepatis) तथा पक्वाशय (Small Intestine) हैं। प्राणायाम के अभ्यास के समय में श्वास के रूप में प्राण वायु (Oxygen) के पूरण, कुम्भन तथा रेचन की क्रियाओं से उक्त सभी अङ्गों का संकोच-विकास के रूप में भलीभाँति व्यायाम होता है। प्राणायाम को बारंबार करने से वक्षस्थल तथा उदर के मध्य में स्थित स्नायुमण्डल के अन्तर्गत डायफ्राम (Diaphragm) नामक स्नायु तथा अनेक मांस पेशियाँ क्रमशः संकुचित तथा विकसित होती रहती हैं। इस प्रकार के व्यायाम से उक्त पाचक अंगों की मालिश (Massage) होती है। प्राणायाम की कुम्भन क्रिया से यकृत में अनावश्यक रूप में संचित हुए रक्त को कम करने के कारण अग्निमान्द्य, बद्धकोष्ठता आदि रोग दूर होते हैं तथा क्लोम ग्रन्थि को पूरण-कुम्भन क्रियाजन्य मांस पेशियों के घर्षणसे उत्तेजना प्राप्त हो कर उसके प्रस्रवों का उत्पादन सम्यक्तया होता है। इस प्रकार पाचक अंगों के समुचित कार्य करने के कारण पाक रस का निर्माण अधिक होता है तथा पक्वाशय के द्वारा उसका शोषण भी अधिक मात्रा में होता है। इसके फलस्वरूप रक्त को उक्त रस में प्राणावायु के साथ पोषक सम्पदाएँ भी अधिक परिमाण में प्राप्त होती हैं।

यौगिक विधान पूर्वक प्राणायाम के समुचित अभ्यास से धमनियों में प्रवाहित होने वाले रक्त को आक्सीजन प्रचुर मात्रा में मिलता है, जो मानव को स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक होता है। इसका कारण यह है कि प्राणायाम के प्रदीर्घ अभ्यास से श्वसन-अंग-समूह का व्यायाम इतना अच्छा होता है कि सर्वदा वह श्वासग्रहण के द्वारा आक्सीजन को सामान्य से अधिक मात्रा में फुफ्फुसों में प्रविष्ट कराने में सक्षम होता है। तात्पर्य रक्त की शुद्धि एवं नवीनता के लिए जितने आक्सीजन की सामान्य मनुष्यों को आवश्यकता होती है, उससे कहीं अधिक आक्सीजन का श्वसन-अंगों के द्वारा ग्रहण, प्राणायाम के नियमित अभ्यास से साधक करने में समर्थ होता है।

साधक यदि प्राणायाम के अभ्यास में, विशेषतया भस्त्रिका प्राणायाम के अभ्यास में श्वास (प्राणवायु) का गहरा पूरण करता है, तो उक्त पूरण के प्रभाव से उसके मस्तिष्क से दूषित रक्त बाहर होकर शुद्ध रक्त का उसमें अभिसरण होना प्रारम्भ होता है। साधक जब मूलबन्ध, जालन्धर

बन्ध तथा उड्डीयान बन्ध के साथ प्राणायाम करता है अर्थात् पूरण, कुम्भन तथा रेचन करता है, तब उसकी रक्त धमनियों में एवं शिराओं में आक्सीजन के अधिकाधिक मिश्रण होने से रक्त शुद्ध होकर उसका अभिसरण अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद होता है।

श्वसन अंगों के तथा मल निःसारक अंगों के कार्यों के सम्यक्तया होने पर ही शिरा-धमनीगत रक्त पौष्टिक तत्त्वों से भरपूर तथा परिशुद्ध होता है। शरीर के समस्त अंगों एवं प्रत्यंगों को धमनियों तथा शिराओं के द्वारा स्वल्पतम समय में उसको पहुँचाने का कार्य हृदय करता है। प्राणायाम के अंगभूत दीर्घ पूरण-क्रिया तथा कुम्भन-क्रिया से हृदय के समीप स्थित स्नायुओं एवं मांसपेशियों के मृदुघर्षण की संवेदना से हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न होती है तथा एतत्फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर की धमनियों में रुधिराभिसरण की क्रिया योग्य रीति से होने लगती है।

सामान्य व्यक्तियों की श्वसन-क्रिया इतनी पूर्ण नहीं होती कि जिससे दोनों फुफ्फुसों (Lungs) के सम्पूर्ण कोष आक्सीजन से भर सके। फुफ्फुसों का स्वास्थ्य एवं कार्यक्षमता आक्सीजन के उनमें होने वाले संचरण पर ही सम्यक्तया अवलम्बित होती है। आक्सीजन के फुफ्फुसों में सार्वदेशिक संचार का उद्देश्य, जिसप्रकार फुफ्फुसों के सम्पूर्ण कोषों को स्वच्छ कर रोग कीटाणुओं के सङ्क्रमण से रक्षा करना है, उसीप्रकार ज्वलन क्रिया के द्वारा पाचक रस को रक्त में परिवर्तित करना तथा रक्त को शुद्ध करना भी है। यह उभयविध कार्य प्राणायाममूलक होता है। प्राणवायु की अर्थात् आक्सीजन की दीर्घपूरण-क्रिया से तथा स्थिर कुम्भन-क्रिया से आक्सीजन, दोनों फुफ्फुसों के समस्त कोषों में भरकर उनको ताजा (Fresh) कर देता है तथा उनकी मलिनता को नष्ट करते हुए रोगों के संसर्ग को भी दूर करता है। इसके अतिरिक्त पूरण, कुम्भन एवं रेचन क्रियाओं के अभ्यास से श्वसन-अङ्गों में उत्पन्न हुई क्षमता के फल स्वरूप साधक को उसकी सामान्य श्वसन-क्रिया में भी सामान्य व्यक्ति की अपेक्षया अधिक आक्सीजन को फुफ्फुसों में समालेने की अधिक क्षमता होने के कारण ऐसी स्थिति में आक्सीजन की अधिक मात्रा रक्त को प्राप्त होती है, जो स्वास्थ्य एवम् आयुर्वृद्धि में नितान्त आवश्यक होती है।

प्राणायाम के अभ्यास से, विशेषतया भस्त्रिका प्राणायाम के अभ्यास से फुफ्फुसों में आक्सीजन के तीव्र प्रवेश के फलस्वरूप रक्त की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है तथा वह आनुपातिक दृष्टि से अधिक शुद्ध हो जाता है। इन्डोक्राइन ग्रन्थि समूह के अन्तर्गत समस्त ग्रन्थियों को प्रचुर मात्रा में शुद्ध रक्त की प्राप्ति होने के कारण उक्त सभी ग्रन्थियां स्वस्थ तथा अधिक कार्यक्षम होकर शरीर के सर्वाङ्गीण स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक सभी प्रकार के प्रस्रव (Hormones) उचित मात्रा में स्रवित करती हैं।

प्राणायाम, जब मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध तथा उड्डीयानबन्ध के साथ किया जाता है, तब उसका प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। इसीप्रकार भस्त्रिका प्राणायाम भी प्राणवायु के द्वारा तीव्र रुधिराभिसरण कराने की दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद होता है। उक्त दोनों प्रकार के प्राणायामों के उचित अभ्यास से मस्तिष्क, मेरुदण्ड तथा तत्सम्बद्ध असंख्य स्नायुओं का मण्डल मांसपेशियों के संकोच एवं विकास स्वरूप मृदुघर्षण से उत्तेजित होता है तथा उसमें रक्त का संचरण तीव्र होने के कारण उसकी कार्य-क्षमता बढ़ती है। एतत्फलस्वरूप मनुष्य के स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

मानव शरीर में उसके आभ्यन्तर मल को बाहर निकालने के प्रमुख चार अंग होते हैं। (१) फुफ्फुसद्वय (Lungs), (२) अन्त्र (Intestine), (३) वृक्कद्वय (Kidneys) तथा (४) त्वचा (Skin)। शरीर में बनने वाले विषाक्त गैस कर्ब-द्वि-ओषिद् (Carbon dioxide) रक्त धमनियों के द्वारा फुफ्फुसो में पहुंचाया जाकर वहां नष्ट किया जाता है अथवा प्रश्वास के साथ नासिका से बाहर निकाल दिया जाता है। आहार के परिपाक के बाद बचा हुआ निरर्थक मल अन्त्र से बाहर निकाल दिया जाता है। इसी प्रकार अन्त्र से एवं मल द्वार से आमाशय एवं पक्वाशय में उत्पन्न हुए विषमय गैस (Carbon dioxide) भी बाहर निकल जाते हैं। वृक्क भी शरीर के आभ्यन्तर, विषाक्त अनावश्यक पदार्थों को मूत्र के साथ बाहर निकालते हैं। इसीप्रकार शरीर के लिए अनपेक्षित विषमय पदार्थों को स्वेद के रूप में त्वचा भी बाहर निकालती है।

साधारण प्राणायाम के अभ्यास से, समूलबन्ध-जालन्धर-बन्धउड्डीयान-बन्ध प्राणायाम के अभ्यास से अथवा भस्त्रिका प्राणायाम के अभ्यास से उपर्युक्त मलनिस्सारक अंग अधिक कार्यक्षम होते हैं। क्योंकि उक्त प्राणायामों की, पूरण, कुम्भन तथा रेचन क्रियाओं से छाती तथा उदर की मांसपेशियों में जो तनाव एवं शिथिलता तथा संकोच-विकास होता है, उससे फुफुसों को, वृक्कों को, अन्त्र को तथा त्वचा को भी रक्त संचार के द्वारा स्फूर्ति प्राप्त होकर वे अङ्ग मल निस्सारण के कार्य को सम्यक्तया करते हैं। मानव शरीर में मल-निस्सारण का कार्य जितना अच्छा होगा, उतना ही स्नायुमंडल का, रुधिराभिसरण का, श्वसन-प्रश्वसन का तथा पाचन एवं पोषण का कार्य सुचारुतया होकर स्वास्थ्य पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। इस वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में यह कहना अतिशयोक्ति-पूर्ण न होगा कि समुचित प्राणायाम के द्वारा ही प्रागुक्त सभी प्रणालियों का कार्य अनुशासित एवम् आनुपातिक रूप में मानवीय स्वास्थ्य के लिए नितान्त लाभदायक होकर मानव के सर्वाङ्गीण विकास के लिए स्थिर आधार होता है।

पाश्चात्य स्नायुचिकित्सिक एवं विद्वान् डा० वोल्गेसी (Dr. volggesi) ने अपनी पुस्तक A massage to the neurotic world में, डा० श्मिट (Dr. Schmidt) ने अपनी पुस्तक Physiology of Exercise में, डॉ० मेकेंजी (Dr. Makenzie) ने अपनी पुस्तक Exercise in Education and medicine में तथा अन्य अनेक विद्वनों ने प्राणायाम के महत्त्व को स्वास्थ्य संवर्द्धन की दृष्टि से प्रतिपादित किया हुआ है।

•
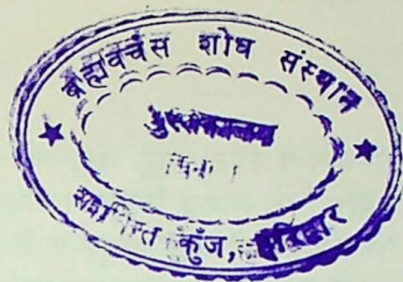
ब्रह्मचर्य तथा योगसाधना

योग साधना की पूर्ति के लिए राजयोग के अष्ट अङ्गों में प्रथम अङ्ग यम का अपना विशेष महत्त्व हैं। वास्तविक अर्थ में यह सम्पूर्ण योग-साधना का मूल आधार है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप यम में सिद्धि प्राप्त न होने की स्थिति में इसके उत्तराङ्ग नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार में साधक को सिद्धि प्राप्त करना कदाऽपि सम्भव नहीं होता।

यम अर्थात् संयम में परिगणित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवम् अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य का अपना विशेष स्थान है। उक्त संयमों में ब्रह्मचर्य नितान्त कठिनतम संयम माना जाता है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल स्त्रीसम्भोगनिवृति न होकर पञ्च ज्ञानेन्द्रियों[1] एवं पञ्च कर्मेन्द्रियों[2] के साथ मन को समस्त विषय वासनाओं से निर्लिप्त रखना है। इसी को जितेन्द्रियता कहते हैं। मन के द्वारा सभी दश इन्द्रियों को वश में रखना ही वास्तविक रूप में इद्रिय-विजय है। यहीं यथार्थ में ब्रह्मचर्य हैं।

व्यावहारिक रूप में मन से स्त्रीसम्भोग के विषय में न सोचना, वाणी से स्त्रोसम्भोगविषयक वार्तालाप न करना तथा शरीर से स्त्री-

---

१. पञ्च ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्रेन्द्रिय (कान), चक्षुरिन्द्रिय (आँख), घ्राणेन्द्रिय नाक, रसनेन्द्रिय (जिह्वा) तथा त्वगिन्द्रिय (त्वचा)। इनके विषय क्रमशः शब्द, रूप, गन्ध, रस एवं स्पर्श हैं।

२. पञ्च कर्मेन्द्रिय—दो हाथ, दो पाँव, वाणी, गुद तथा जननेन्द्रिय। इनके कार्य क्रमशः उठाना, रखना लिखना आदि, चलना, बोलना, गाना आदि, मल-निस्सारण तथा मूत्रत्याग, सम्भोगक्रिया आदि हैं।

सम्भोग न करना यह ब्रह्मचर्य कहलाता है। इससे भी निम्नस्तर में ब्रह्मचर्य का आशय विवाह न करना अथवा विवाह करने पर भी स्वतः की धर्मपत्नी के साथ ऋतुकाल के अतिरिक्त समय में तथा सन्तान की इच्छा न होने पर सहवास न करना माना गया है। किन्तु वास्तव में ब्रह्मचर्य का पूर्ण अर्थ होता है इन्द्रियों के दमन के द्वारा वीर्य का निरोध करना, वेद वेदाङ्ग एवं तत्त्वज्ञान का सम्पूर्ण अध्ययन करना तथा सत्-चित्-आनन्दरूप परब्रह्म-परमात्मा में लीन होना।

ब्रह्मचर्य का प्रधान उद्देश्य वीर्य लाभ है। यह वीर्य 'वीर्यं वै भर्गः' इस श्रुति के अनुसार दिव्य तेज एवं ओजस् है। इसी से स्मृति, बुद्धि एवं प्रतिभा का प्रकर्ष होकर उससे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। तथा तत्त्व ज्ञान से सत्-चित्-आनन्दरूप परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। तात्पर्य तेजोमय वीर्य भी ब्रह्मरूप होता है, तत्त्वज्ञान अर्थात् वेदतत्त्व भी ब्रह्म होता है तथा सत्-चित्-आनन्द परमात्मा भी ब्रह्म होता है। इन तीनों ब्रह्मो का समन्वित ऐक्य ही ब्रह्म-आचरण अर्थात् ब्रह्मचर्य होता है। साधक की स्थायी निष्ठा यदि ब्रह्मचर्य में नहीं होती, तो उसके लिए योग की साधना का पथ महान्, दिव्य, गहन तथा कठिन होने के साथ ही नितान्त क्रूर एवं मृत्यु मुख भी हो सकता है। साधक यदि पूर्णतया जितेन्द्रिय एवं निष्ठावान् ब्रह्मचारी होता है, तभी वह योग-साधना के पथ में अग्रेसर होते हुए समाधिसिद्धि को प्राप्त करता है। यदि वह इसके विपरीत अजितेन्द्रिय तथा अब्रह्मचारी होता है तो वह अवश्य ही योगसाधना पथ से च्युत होकर कभी कालकवलित भी हो सकता है।

पश्चात्य देशों में ऐसी द्यूत क्रीडाएं होती है, जिनमें एक हजार अंकों में नौ सौ निन्यान्बे अङ्क हार के होते हैं तथा केवल एक अङ्क जीत का होता है। किन्तु वर्तमान समय में योग साधना के पथ में एक करोड़ अंको में निन्यान्बे लाख निन्यान्बे हजार नौ सौ निन्यान्बे अङ्क हार के होते हैं तथा एकमात्र अङ्क जीत का होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्तमान कालिक विपरीत प्रदूषित परिस्थिति में पूर्ण इन्द्रिय विजय तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य के अभव में जहाँ यमों एवं नियमों की सिद्धि ही सम्भव नहीं है, वहाँ आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान की वार्ता करना ही व्यर्थ है। भले ही 'योगा' के नाम पर कतिपय रोग निवारक एवं स्वास्थ्य वर्धक कसरतिया आसनों का अभ्यास किया जाए,

किन्तु वास्तविक योग साधना के आभ्यन्तर अङ्ग धारणा, ध्यान एवं समाधि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। सारांश में करोड़ों-अरबों मनुष्यों में कोई एक सच्चा साधक योगी उत्पन्न होता है, जिसको योग सिद्धि प्राप्त होती है तथा उक्त समाधिसिद्धि से कैवल्य (निर्वाण-मोक्ष) की उसको प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

इस अथर्ववेद की श्रुति के अनुसार मृत्युञ्जय के रूप में ब्रह्मचर्य का वर्णन हुआ है।

स्थिरे बिन्दौ स्थिरः प्राणः स्थिरा बुद्धिः स्थिरं मनः।

इस योगशास्त्रीय वचन के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र में वीर्यविन्दु के स्थिर होने से पञ्च प्राण स्थिर होते हैं। विवेकख्याति स्थिर होती है तथा मनस्तत्त्व स्थिर अर्थात् एकाग्र ध्यानप्रवण होता है।

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावत्, तावत् कालभयं कुतः।

हठयोगप्रदीपिका के इस उक्ति के अनुसार साधक ब्रह्मचारी जब तक वीर्यंको ऊर्ध्व गामी रखता है, तब तक उसको मृत्यु-भय नहीं होता है।

सिद्धे बिन्दौ महादेवि ! किं न सिध्यन्ति भूतले।

इस योग शास्त्र के वचन के अनुसार वीर्य बिन्दु की स्थिरता एवम् ऊर्ध्वंगति से साधक को संसार की समस्त अपरा एवं परा सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्।

इस शिवसंहिता के वचन के अनुसार वीर्य-बिन्दु का ब्रह्मरन्ध्र से प्रस्रवण ही मरण है तथा ब्रह्मरन्ध्र में वीर्य-बिन्दु की स्थिरता ही जीवन है।

उक्त सभी प्रमाणों का सारांश यह है कि विजितेन्द्रिय ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी कालजयी होकर योग साधना में पूर्णतया सफल होता है तथा आधिभौतिक, आधिदैविक एवम् आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में उसको सफलता प्राप्त होती हैं।

ब्रह्मचर्य के तात्त्विक पक्ष का अनुसन्धान करने पर यह तथ्य सुलभता से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य के प्रमुख उद्देश्य वीर्यबिन्दु का संक्षरण, संशोधन तथा उद्बोधन करना है। ब्रह्म में अर्थात् सत्-चित्-आनन्द रूप परब्रह्म के साक्षात्कार की साधना में जिस नैष्ठिक व्रत के द्वारा प्रवेश एवं सञ्चार होता है, वही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। तात्पर्य, केवल वास्तविक ब्रह्मचारी ब्रह्मसाधना में अर्थात् कैवल्य-मोक्ष साधना में सफलतया अग्रेसर हो सकता है, अन्य नहीं। विषयवासनाएँ मिथ्यासंकल्प, इन्द्रियलोलुपता तथा मन की विक्षिप्तावस्था की पूर्ण-तया निवृत्ति होने पर ही बिन्दु की जो सापेक्षिक समतावस्था होती है, वही ब्रह्मचर्य की प्राथमिक भूमिका होती है। उक्त बिन्दु के स्खलन से सृष्टि तथा उसकी स्थिरता से अमृतत्व अर्थात् मुक्ति सिद्ध होती है।

शास्त्रों में वीर्य को बीज, वीर, ओजस्, बल, भर्ग, तेज, शुक्र, पावित्र्य, रेत, रेतस्, कान्ति, बिन्दु आदि शब्दों से अभिहित किया हुआ है। योग शास्त्र में वीर्य को ब्रह्मबिन्दु तथा ब्रह्मबीज भी कहा गया है। ब्रह्मचर्य शब्द के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द वीर्य एवं ब्रह्म के अमेद्य सम्बन्ध को सूचित करता है। उक्त वीर्य एवं ब्रह्म के अमेद्य सम्बन्ध को स्थिर एवम् अखण्ड रखने वाला साधक ही प्रथम श्रेणी का ब्रह्मचारी होता है। इस ब्रह्मचारी साधक का अहं बिन्दु अपने स्वभाव सिद्ध स्वरूप ब्रह्म में ही स्थिर रहता है तथा साधना के द्वारा अहं बिन्दु ब्रह्म बिन्दु में परवर्तित होकर सर्वदा पूर्णतया स्थिर तथा कम्पनहीन रहता है।

द्वितीय श्रेणी के ब्रह्मचारी साधक के ब्रह्मबिन्दु में कम्पन तथा किंचित् अस्थिरता होती है, किन्तु ब्रह्मचारी साधक अपने दृढ़ निश्चय, कठोर संयम आदि के द्वारा उक्त ब्रह्मबिन्दु के कम्पनों को ब्रह्मबिन्दु की ओर ही परावर्तित करता है, जो ब्रह्मचारी साधक के लिए नितान्त कठिन कसौटी का विषय होता है।

तृतीय श्रेणी के ब्रह्मचारी साधक के ब्रह्मबिन्दु में उत्पन्न हुए कम्पनों को वह ईश्वर प्रदत्त सृजन कम्पन का आदेश समझकर गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होता है तथा 'एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय' इस ध्येय से अनुप्रेरित होकर वैध सन्तानोत्पत्ति में उक्त ब्रह्मबिन्दु का सदुपयोग करता है। इस समय यह तृतीय श्रेणी का साधक, उक्त ब्रह्मबिन्दु के कम्पन को

सृजन की प्राकृतिक चेतना के रूप में अभिज्ञात कर ही शोभन ऋतु समय में, उत्तम स्वजाति संक्षरणक्षम सन्तान की उत्पत्ति की अभिलाषा से अनुप्रेरित होकर स्वधर्मपत्नी के साथ कामशास्त्र के अनुकूल रतिक्रिया को सम्पन्न कर उसमें ब्रह्मबिन्दु रूप वीर्य का क्षरण करता है। इससे इस साधक के ब्रह्मचर्य व्रतपर अशोभन प्रभाव न पड़कर काम बीजमूलक यौनवासनाओं से एवं स्वच्छन्द रति-प्रवृत्ति जन्य दूषित वासनाओं से वह कदाऽपि आलिप्त नहीं होता।

इस प्रकार, उपयुक्त तीनों प्रकार के ब्रह्मचारी परमात्मतत्त्व परब्रह्म के ही उपासक होते हैं। इसमें प्रथम श्रेणी के ब्रह्मचारी ब्रह्मलीन, ब्रह्मस्थिति एवं ब्रह्मरूप होते हैं। द्वितीय श्रेणी ब्रह्मचारी योगी-सिद्धयोगी होते हैं तथा तृतीय श्रेणी के ब्रह्मचारी भगवान् के परम प्रिय श्रेष्ठ भक्त होते हैं।

इस संसार में व्यावहारिक जीवन में प्राणिमात्र में अन्यविषय वासनाओं की तुलना में कामवासना (Sex feel ng) अत्यन्त बलवती होती है। मनुष्यों की अपेक्षया अन्य प्राणियों में, विशेषतया जलचर, पशु एवं पक्षियों में उक्त कामवासना सार्वकालिक न होकर ऋतु कालिक होती हैं। मनुष्यों की कामवासना के समान इनकी कामवासना असंयत नहीं होती है। इस दृष्टि से प्रजनन तथा ब्रह्मचर्य (वीर्य संयम) के क्षेत्र में पशु पक्षि, मनुष्य की अपेक्षया श्रेष्टतर प्रतीत होते हैं। मनुष्यों के मस्तिष्क में अवस्थित काम बीज पञ्चज्ञानेन्द्रियों के विषयों से तथा स्मृति, चिन्तन, कल्पना आदि से भी उद्दीप्त होकर कामवासनाओं को प्रदीप्त करता है। इसके लिए उसे ऋतु समय की आवश्यकता भासमान नहीं होती। शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ युवक तथा युवती अनुकूल एकान्त परिवेश एवं परिसर में परस्पर अनुरक्त होने की स्थिति में संभोगरत हो सकते हैं। यद्यपि यह कामोपभोग की सार्वकालिक क्षमता मनुष्यों में अनन्य साधारण कोटि की होती हैं, किन्तु इससे उनकी आत्मिक, मानसिक तथा भौतिक शक्ति का ह्रास भी द्रुत गति से होता है इसमें सन्देह नहीं। इसलिए स्त्री एवं पुरुष दोनों को जीवन में भौतिक शारीरिक तथा मानसिक उत्कर्ष की प्राप्ति हेतु इन्द्रिय संयम की विशेषतया परिमित ब्रह्मचर्य की नितान्त आवश्यकता होती है। इसीसे परिमित एवं अभीप्सित प्रजनन की शक्यता होकर उत्तम संस्कारों से युक्त सन्तति का भी लाभ होता है।

●

योगविषयक सामान्यज्ञान

त्रियोग—१. ज्ञानयोग, २. भक्तियोग तथा ३. कर्मयोग।

योगचतुष्टय—१. मन्त्रयोग, २. लययोग, ३. हठयोग तथा ४. राजयोग।

द्विविधा निष्ठा—१. सांख्ययोग तथा २. कर्मयोग।

द्विविधा प्रकृति—१. परा तथा २. अपरा।

त्रिविध पुरुष—१. क्षर, २. अक्षर तथा ३. पुरुषोत्तम (जगत्, जीव एवं भगवान्)।

वेदान्त के चार महावाक्य—१. अहं ब्रह्मास्मि, २ तत्त्वमसि, ३ प्रज्ञानं ब्रह्म तथा ४. अयमात्मा ब्रह्म।

सप्त ज्ञानभूमिका—१. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३. तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५. असंसक्ति, ६. पदार्था विभाविनी तथा ७. तुर्यगा।

साधन चतुष्टय—१. नित्यानित्यवस्तु-विवेक, २. वैराग्य, ३ षट्-सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा तथा समाधान) तथा ४, मुमुक्षुत्व।

त्रिविध नरकद्वार—१. काम, २. क्रोध तथा ३. लोभ।

त्रिविध ज्ञान के द्वार—१. श्रद्धा, २ तत्परता तथा ३. इन्द्रिय संयम।

भक्ति के चार महावाक्य—१. कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् २. मत्तः परतरं नान्यत्, ३ ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् तथा ४ मामेकं शरणं व्रज।

द्विविधा भक्ति—१. अपरा-गौणो तथा २. परा-रागानुगा।

नवधा भक्ति—१. श्रवण, २. कीर्तन, ३. स्मरण, ४. पादसेवन, ५. अर्चन, ६. वन्दन, ७. दास्य, ८. सख्य तथा ९. आत्मनिवेदन।

पञ्चभाव—१. शान्त, २. दास्य, ३. सख्य, ४. वात्सल्य तथा ५. माधुर्य।

अष्टसात्त्विकभाव—१. स्तम्भ, २. स्वेद, ३. रोमांच, ४. स्वरभङ्ग, ५. कम्प, ६ वैवर्ण्य, ७ अश्रु तथा ८. प्रलय।

प्रेम की तीन अवस्थाएं—१. पूर्वराग, २. मिलन तथा ३. वियोग।

त्रिविध विरह—१. भूतकालिक, २. वर्तमानकालिक तथा ३. अनागत-कालिक।

विरह की दस दशाएं—१. चिन्ता, २. जागरण, ३ उद्वेग, ४. कृशता, ५. मलिनता, ६ प्रलाप, ७. उन्माद, ८. व्याधि, ९. मोह तथा १०. मृत्यु।

चतुर्विध भाव—१. भावोदय, २. भावसन्धि, ३. भावशाबल्य तथा ४. भावशान्ति।

द्विविधमहाभाव—१. रूढ तथा २. अधिरूढ।

द्विविध अधिरूढमहाभाव—१. मोदन तथा २. मादन (मोहन)।

आसन—चौरासी तथा एक सौ आठ। प्रधान दो आसन—१. पद्मासन तथा २. स्वस्तिकासन।

मुद्राएं—अनेक हैं, किन्तु प्रमुख निम्नलिखित हैं। १. महामुद्रा, २. नभोमुद्रा, ३. महावेधमुद्रा, ४. खेचरी मुद्रा, ५. विपरीत कृतिमुद्रा, ६. योनिमुद्रा, ७. वज्रोलीमुद्रा, ८. शक्तिचालनीमुद्रा, ९. तडागीमुद्रा, १०. माण्डवीमुद्रा, ११. शाम्भवीमुद्रा, १२. अश्विनीमुद्रा, १३. पाशिनीमुद्रा, १४. काकीमुद्रा १५. मातंगीमुद्रा तथा १६. भुजंगिनीमुद्रा।

प्रमुखबन्ध—१. मूलबन्ध, २ महाबन्ध, ३. जालन्धरबन्ध तथा ४. उड्डीयानबन्ध।

पञ्चधारणाएं—१. पार्थिवी, २. आम्भसी, ३. वैश्वानरी, ४. वायवी तथा ५. आकाशी।

षट्कर्म—१. धौति, २. बस्ति, ३. नेति, ४. नौलि, ५. कपालभाति तथा ६. त्राटक।

प्राणायाम—१. पूरक प्राणायाम, २. कुम्भक प्राणायाम तथा ३. रेचक प्राणायाम।

चतुर्विध प्राणायाम—१. आभ्यन्तर प्राणायाम, २. बाह्य प्राणायाम, ३. केवल प्राणायाम तथा ४. द्वितीय केवल प्राणायाम।

नवविध प्राणायाम—१. लोम-विलोम २. सूर्यभेदन, ३. उज्जायी, ४. सीत्कारी, ५. शीतली, ६. भस्त्रिका, ७. मूर्छा, ८ भ्रामरी तथा ९. प्लाविनी।

सामान्य मनुष्य के दैनिक श्वास—एक्कीस हजार छ सौ।

तीन प्रमुख नाडियां—१. इडा, २. पिंगला तथा ३. सुषुम्ना।

दशवायु—१. प्राण, २. अपान, ३ व्यान, ४. उदान, ५. समान ६. नाग, ७. कूर्म, ८. कृकल, ९. देवदत्त तथा १०. धनञ्जय।

योग के षट् चक्र—१. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपूर, ४. अनाहत, ५. विशुद्ध तथा ६. अज्ञाचक्र।

योग के सप्तचक्र—१. मूलाधार चक्र, २. स्वाधिष्ठान चक्र, ३ मणिपूर चक्र, ४. अनाहत चक्र, ५. विशुद्ध चक्र, ६. आज्ञा चक्र तथा ७. सहस्रार चक्र।

योग के नव चक्र—उपर्युक्त सात चक्रों के अतिरिक्त ८. ललना चक्र (तालु प्रदेश में) तथा ९ गुरुचक्र (ब्रह्मरन्ध्र में)।

षोडश आधार—१. दक्षिण पाद का अंगुष्ठ, २. गुल्फ, ३ गुद, ४. लिंग, ५. नाभि, ६. हृदय, ७. कण्ठ कूप, ८. तालुमूल, ९. जिह्वा मूल १०. दन्त मूल, ११. नासिकाग्र, १२. भ्रूमध्य, १३. नेत्रमण्डल, १४. ललाट, १५. मस्तक तथा १६. सहस्रार।

तीन ग्रन्थियां—१. ब्रह्म ग्रन्थि, २. विष्णु ग्रन्थि तथा ३. रुद्र ग्रन्थि।

त्रिमार्ग—१. पिपीलिका मार्ग, २. दार्दुर मार्ग तथा विहङ्गम मार्ग।

त्रिशक्ति—१. ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठ में), २ अधः शक्ति (गुदमें) तथा ३. मध्य शक्ति (नाभिमें)।

पञ्चमहाभूत—१. पृथ्वी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु तथा ५ आकाश।

पञ्च-आकाश—१. आकाश, २. महाकाश, ३. पराकाश, ४. तत्त्वाकाश तथा ५. सूर्याकाश।

वर्ण—पचास, अ से ह तक।

त्रिविधमन्त्र—१. पुरुष, २. स्त्री तथा ३. क्लीब।

चतुर्विधा वाणी—१ परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा तथा ४. वैखरी।

योग के आठ अंग—१. यम, २ नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, तथा ८. समाधि।

यम—१. अहिंसा, २ सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य तथा ५. अपरिग्रह।

नियम—१. शौच, २. सन्तोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय, एवम् ५. ईश्वर प्रणिधान।

संयम—१ धारणा, २. ध्यान तथा ३. समाधि।

क्रियायोग—१. तप, २ स्वाध्याय तथा ३. ईश्वरप्राणिधान।

द्विविधध्यान—१ भेदभावमूलक तथा २. अभेदभावमूलक।

द्विविध समाधि—१ सम्प्रज्ञात (सविकल्पक-सबीज) तथा २. असम्प्रज्ञात (निर्विकल्पक-निर्बीज)।

असम्प्रज्ञात समाधि के भेद—१. वितर्कानुगम, २. विचारानुगम, ३. आनन्दानुगम तथा ४. अस्मितानुगम।

असम्प्रज्ञातसमाधि के दो भेद--१. भव प्रत्यय, तथा २ उपाय प्रत्यय।

पञ्चवृत्तियाँ—१. मूढ़ वृत्ति, २. क्षिप्त वृत्ति, ३. विक्षिप्तवृत्ति, ४ एकाग्रवृत्ति, तथा ५. निरुद्धवृत्ति।

पञ्चक्लेश—१. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष तथा ५. अभिनिवेश।

सप्तसाधन—१. शोधन, २. दृढ़ता, ३. स्थैर्य, ४. धैर्य, ५. लाधव, ६. प्रत्यक्ष तथा ७. निर्लिप्तता।

योग के विघ्न—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषयतृष्णा, भ्रान्ति, फलसंदेह, चित्तास्थिरता, दुःख, मन की खराबी, देह की चंचलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित एवम् उत्तेजक अहार, अनियमितनिद्रा, ब्रह्मचर्य का अभाव, अयोग्य गुरुका शिष्यत्व, वास्तविक गुरुका अपमान, ईश्वर में अविश्वास, सिद्धियों की अभिलाषा, अल्पसिद्धि में ही पूर्णसफलता को मानना, विषयानन्द, पूजित होना, गुरु बनना तथा दम्भ करना।

अष्टमहा सिद्धियां—१. अणिमा, २. महिमा, ३ गरिमा, ४. लघिमा, ५. प्राप्ति, ६. प्राकाम्य, ७. ईशीत्व तथा ८. वशित्व।

चतुर्विध साधक—१. मृदु, २. मध्य, ३. अधिमात्र तथा ४. अधिमात्रतम।

चार अवस्थाएं—१. जाग्रत्, २. स्वप्न, ३. सुषुप्ति तथा ४. तुरिया।

•